महाकवि पन्त

डा० सत्यकाम वर्मा
एम्. ए., पी-एच्. डी.
प्राध्यापक, स्नातकोत्तर शिक्षण संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक :
भारतीय प्रकाशन,
सी-८/११, माडल टाउन,
दिल्ली-९.

अगस्त [illegible]

मूल्य : ४.०० रुपये

मुद्रक :
युगान्तर प्रेस,
मोरी गेट, दिल्ली-६.

पन्त की आलोचना से जिन्होंने
हिन्दी को एक नई सरणि दी
उन्हीं
डॉ० नगेन्द्र
को सादर समर्पित

लेखक की ओर से

श्री सुमित्रानन्दन पन्त हिन्दी के वरिष्ठ कवियों में से एक हैं। मैथिलीशरण 'गुप्त' और माखनलाल चतुर्वेदी जैसे कुछ ही कवि उनसे पूर्व युग की याद दिलाने शेष रह गए हैं। अन्यथा वय और रचना की दृष्टि से अब भी सक्रिय कवियों में, वरिष्ठता में, पन्त का नाम ही सबसे ऊँचा ठहरता है।

उसके व्यक्तित्व का यह अन्तर्विरोध ही है कि एक ओर उनके काव्य को **कोमलता** और **सुन्दरता** का प्रतिनिधि माना जाता है, दूसरी ओर उसमें चिन्तन की जटिलता कई बार उसे अगम्य-सा बना देती है। उनके काव्य का यह अन्तर्विरोध केवल **भाव-पक्ष** तक ही सीमित नहीं है, **कला-पक्ष** में भी यही बात देखी जा सकती है। भाषा का जादूगर पन्त उसे जैसा चाहे ढाल लेता है : कभी ललित और लघु पदावली और कभी बोझिल और समस्त वाक्य-रचना। लगता है संस्कृत के **महाकवि बाण** की यह विशेषता, हिन्दी कविता में, श्री सुमित्रानन्दन पन्त के भाग में पड़ी हो !

भावना में उनका काव्य हमें संस्कृत के **'नैषध-चरित्र'** की याद दिला देता है : सरलतम होकर भी जटिलतम ! कहीं-कहीं वैसी ही कल्पना की दुरूहता भी आ जाती है। **महाकवि श्रीहर्ष** की सी विस्तार शक्ति भी पन्त को प्राप्त है।

'लोकायतन' का प्रकाशन अभी हाल में न भी हुआ होता, तब भी पन्त की ये विशेषताएँ इसी रूप में गिनाई जातीं। इस महाकाव्य के प्रकाशन से केवल इतना ही हुआ है कि पन्त की सभी विशेषताएँ और सभी अन्तर्विरोध एक साथ ही सामने आ गए हैं। कवि स्वयं को 'बूढ़ा चाँद' कहने लगा है, पर यह चाँद' तो मिटते-मिटते भी अपनी चमक में द्विगुणित होता जा रहा है।

अन्तर्विरोध पन्त के व्यक्तित्व में भी कम नहीं है। वह अब भी युग की बात लिखकर और कहकर भी युग से पहले जैसा ही दूर है। उसका काव्य प्रौढ़ ऋषि का काव्य सा बन गया है। वर्णनों की सरलता के साथ चिन्तन की जटिलता भी विद्यमान है। अब भी अपने व्यक्तित्व के अछूतेपन में उसकी गहरी आस्था है। भीड़ से अब भी वह घबराता है। साहित्यकारों की भीड़ पर भी यह बात लागू होती है।

व्यक्तित्व के प्रति ऐसे सजग महाकवि को **युगकवि** कहना उसके व्यक्तित्व के प्रति अश्रद्धा और अनभिज्ञता प्रकट करना ही कहा जा सकता है। पर उसे **महाकवि** कहने का अर्थ भी यह नहीं है कि उसने परम्परा निर्वाह के लिए **महाकाव्य** का सृजन कर दिया है। उसके महाकवित्व का आधार तो 'वीणा' में ही छिपा हुआ था। कवित्व की महानता उसमें आरम्भ से ही विद्यमान है। इस दृष्टि से वह सच्चे अर्थों में **महान् कवि** या **महाकवि** है।

प्रस्तुत लघु रचना में ऐसे ही महाकवि के कृतित्व का विवेचन अन्तर्हित है। यह प्रयास अनुसन्धित्सु साहित्यकों एवं विद्यार्थियों के लिए यदि समान रूप में उपयोगी सिद्ध हो सका, तो लेखक स्वयं को कृतार्थ समझेगा। इसे पढ़ने से पहले यदि लेखक के विचारों को समझने के लिए उसके 'हिन्दी-साहित्यानुशीलन' या 'हिन्दी का आधुनिक साहित्य' में से सम्बद्ध प्रकरण पढ़ लिए जाएँ, तब सुविधा रहेगी। लेखक ने वहाँ संक्षेप में पूरी पृष्ठभूमि को समझा दिया है!

इस पुस्तक की सज्जा में जिन भी लेखकों और सहयोगियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योगदान रहा है, उन सबके प्रति लेखक साभार नम्र है।

आलोचना सुनने को उत्सुक—

—**लेखक**

७/३, अशोक नगर, नई दिल्ली-१८,
दि० २७-७-६४,

विषय-सूची

१

जीवन और व्यक्तित्व

प्राकृतिक वातावरण—इस शती के आरम्भ में जन्म लेने वाले कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत ने पिछले चौंसठ वर्षों में जितनी बहुविध प्रगति की है, और जितने चरण अपनी कविता यात्रा के पूरे किए हैं, उतने अकेले किसी और हिन्दी-कवि ने नहीं किए। अलमोड़ा के पर्वतीय अंचल में जन्म लेकर बढ़ने वाले इस कवि के स्वभाव में कदाचित् यह विविधता प्रकृति और वातावरण की रंगीनी की ही देन कही जा सकता है। कवि-जीवन में जो कुछ भी अस्थिरता हमें मिलती है, वह कदाचित् प्रकृति के नये-नये मनोहारी दृश्यों के प्रतिक्षण बदलते रहने वाले वातावरण के कारण ही रही होगी। माता का स्नेह आरम्भ से ही उसके सिर से उठ गया। कदाचित् प्रकृति के प्रति अत्यधिक स्नेह का, और उसे मां तक समझ बैठने का, कारण इस अभाव की पूर्ति ही कहा जा सकता है।

कोमल-स्वभाव—पिता का नाम श्री गंगादत्त पंत और माता का नाम श्रीमती सरस्वती देवी था। दोनों के नाम में, गंगा और सरस्वती के रूप में, स्त्री-तत्त्व की जो प्रधानता थी, नाम और स्वभाव में स्त्री-तत्त्व की वही प्रधानता श्री सुमित्रानन्दन पंत को भी, उत्तराधिकार रूप में, मिली। उनके काव्य में स्वयं को नारी समझने की भावना का रहस्य तो यह नहीं है, किन्तु फिर भी यह संयोग की बात अवश्य है।

शिक्षा और झुकाव—अनेक विद्यालय पार करके भी अंत में कवि अपनी शिक्षा को उच्चतर माध्यमिक स्तर से आगे न ले जा सका। उस समय शिक्षा से मन उचाट हुआ और कवि आंग्ल-कवियों की एक ऐसी

दुनिया में खो गया, जिसमें उसे अपनी प्रकृति के अनुकूल कोमलता और मधुरता से भरा हुआ नारी-सुलभ वातावरण पूरे रूप में उपलब्ध हुआ। महाविद्यालय में पढ़ते हुए ही कवि इस साहित्य के सम्पर्क में आया था। बाद में उसे इसमें ही वह उत्तेजना और प्रेरणा भी मिली, जिसने उसकी रोमांटिक प्रकृति को सामने ला दिया। जीवन की सारी ही प्रेरणाएं जैसे एक दिशा में बढ़ने लगी।

रचना-आरम्भ—पन्द्रह वर्ष की अवस्था में 'पंत' ने अपना प्रथम उपन्यास 'हार' नाम से लिखा। सत्रह वर्ष की अवस्था में उसकी प्रथम काव्य रचना 'वीणा' का सृजन आरम्भ हुआ। इस प्रकार महाविद्यालय की शिक्षा को अधूरा छोड़ने से पहले ही कवि अपने जीवन की निश्चित दिशा में बढ़ने को तैयार हो चुका था। उसकी रचना का प्रथम प्रकाशन सन् १९२७ में हुआ। किन्तु, तब तक कुछ और रचनाएं भी सामने आ चुकी थीं। उनका प्रकाशन भले ही बाद में हुआ हो, किन्तु उनसे कवि की प्रगति का अनुमान भलीभांति हो जाता है।

'पल्लव' तक की रचनाएं सन् '२४ तक की हैं। 'परिवर्त्तन' कविता इसी वर्ष लिखी गई थी। इससे पहले कवि स्वतंत्र कविताओं के प्रकाशन की दृष्टि से पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने आरम्भिक इतिहास में उसके महत्व का पूरा अनुमान कर लिया था। इस समय तक 'छायावाद-युग' अपने पूर्ण यौवन पर आ चुका था। 'गुंजन' की रचना भी इस वर्ष तक आरम्भ हो चुकी थी।

स्वतंत्र चेतना : तटस्थता—कवि ने महाविद्यालय की अपनी शिक्षा गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के कारण सन् १९२१ में समाप्त कर दी थी। एक सूचना के अनुसार 'पंत' ने स्वयं भी आन्दोलन में हिस्सा लिया। परन्तु, इस सबसे यदि कुछ भी लाभ हुआ, तो यही कि कवि की स्वतंत्र चेतना अधिकाधिक विकसित होती गई। अन्यथा, कवि को राष्ट्रीयता, देश प्रेम, आदि विषयों के प्रति काव्य-प्रेरणा के रूप में कोई लगाव न जगा। आरम्भ से ही कवि अपने वास्तविक जीवन से उदासीन रहकर

जब एक बार प्रकृति की ओर आकृष्ट हुआ, तो वह कभी फिर वास्तविक जीवन की ओर न लौट सका। अब भी उसने जीवन पर विचार किया, उसकी दृष्टि वैसे ही पर्यवेक्षक की रही, जैसे प्रकृति के प्रति रहा करती थी। उसे जीवन में भी एक अस्पृश्य सौन्दर्य के ही दर्शन हुए, जैसे सौन्दर्य के दर्शन उसने प्रकृति की रमणीयता में किए थे। भौतिक लगाव की अपेक्षा, उसका ध्यान एक विस्तृत, व्यापक और सर्वत्र समान रूप में फैले हुए किसी तत्त्व की ओर ही लगा रहा। यह स्थिति आरम्भ से आज तक चली आ रही है। कभी यह तत्त्व आन्तरिक रहा है, और कभी यही तत्त्व भौतिकता में उतर आया है।

जीवन की कठिनाइयां—सन् १९२८ में कवि के पिता का भी देहान्त हो गया। कवि की आर्थिक दशा पिछले सात वर्षों से ही बिगड़ी हुई थी। इसके बाद तो वह और भी तंगी अनुभव करने लगा। उसके भाई-बंधु भी कमाने की दृष्टि से कुछ विशेष श्रम न कर पाए। घर का मोह छूट गया।

पंत को अगले दो तीन वर्ष तंगी में बिताने पड़े। इसी समय उनके जीवन के निकटतम मित्र 'काला कांकर' के युवराज ने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया। यह बात सन् '३१ की है। तब से कुछ वर्ष कवि उनके साथ ही रहा। यहीं पर उसने 'रूपाभ' नाम पत्रिका का सम्पादन किया। इस समय तक कवि 'गुंजन' की स्थिति पार कर चुका था। उसे जीवन की वास्तविक कठिनाइयां भी अनुभव हो चुकी थीं। अच्छे ढंग से पले और बढ़े कवि को यह अनुमान पूरी तरह हो चुका था कि किस प्रकार साधारण जन-जीवन में कठिन संघर्षों से उलझना पड़ता है।

नई दिशा—उसने एक नई दिशा में विचार करना आरम्भ किया। गांधी जी के आन्दोलनों, समाज की विषमताओं, गांधीवादी आदर्शों, और रवीन्द्र के मानवतावादी विचारों ने उसे एक नई दिशा प्रदान की। अब वह मानव की बाह्य स्थितियों पर अधिक सोचने लगा। उसके महाविद्यालय-जीवन की समाप्ति पर उसका ध्यान दार्शनिकता की ओर गया

था, और, जीवन की प्रथम परीक्षा भुगतने के बाद, उसका ध्यान भौतिक सत्यों की ओर खिंचा। इस प्रकार कवि के जीवन में एक पलटाव आ गया।

सन् '३४ से '४० तक कवि इस नई दिशा में बढ़ा। इस समय भी कवि अपने इन्हीं मित्र के पास रहा। वह स्वयं आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त था। किन्तु, उसने चारों ओर के समाज की सभी चिन्ताओं को पूरी तरह देख लिया था। परन्तु, इस देखने का अर्थ अनुभव करना नहीं था। उसकी अनुभूति केवल बौद्धिक ही रही। इससे बढ़कर उसने कोई क्रियात्मक कदम न उठाया। 'ज्योत्स्ना' में चित्रित समाज के निर्माण के लिए उसने 'लोकायतन' नामक संस्था बनानी चाही। किन्तु, कवि के विचार और समाज की वास्तविकता एक धरातल पर न मिल सके। उसका यह स्वप्न उसके हाल के काव्य 'लोकायतन' में अधिक स्पष्ट हुआ है।

जीवन से निराशा : नये मोड़—सन् १९४० तक की रचनाओं में 'प्रगतिवाद' का प्रभाव स्पष्ट है। इसके बाद कवि अत्यधिक रुग्ण हो गया और उसे अपने जीवन से भी निराशा हो गई। भौतिक असफलताओं को देखकर फिर से उसका मन किसी केन्द्रीय आस्था को पाने के लिए लालायित हो उठा। यह आस्था उसे मिली योगिराज अरविन्द के दर्शनों से और उनके दार्शनिक चितन के परिणामों के अध्ययन से। इसका प्रभाव कवि की अनेक रचनाओं पर स्पष्ट हुआ है। 'कला और बूढ़ा चाँद' का प्रकाशन सन् १९५९ में हुआ। उससे पूर्व तक की रचनाएं अरविन्द दर्शन से ही प्रभावित हैं। यह नई रचना उनके कवि जीवन के नये मोड़ को सूचित करती है। 'लोकायतन' में उनका सम्पूर्ण जीवन-चिन्तन स्पष्ट हुआ है।

अन्तिम चरण—छायावाद, प्रगतिवाद, और अरविन्द के दिव्य-जीवन सम्बन्धी आदर्शों के गीत गाने के बाद कवि जिस चरण पर अन्त में पहुँचा है, वह देखने में प्रयोगवाद का चरण लगता है। उसकी कला, उसके विषय, और उसकी अभिव्यक्ति उसी प्रकार की हो गई हैं। किन्तु,

तो भी कवि ने प्रयोगवाद की विचार पद्धति को अपनाने के प्रति कोई आग्रह नहीं दिखाया है। उसकी दृष्टि मे व्यक्ति का महत्त्व आरम्भ से ही रहा है। व्यक्ति-चिन्तन को भी वह आरम्भ से ही महत्त्व देता आया है। इसलिए उसे प्रयोगवाद में, भावना की दृष्टि से, कुछ भी नवीनता नही दिखाई दी। हां, जहां तक उपेक्षित तत्त्वो के प्रति खुली दृष्टि का सम्बन्ध है, उसे उसने एक व्यापक दायरे में ला दिया है। उपमाओं के क्षेत्र में वह आरम्भ से ही नये-नये तत्त्वों को खोजने का आदी रहा है। ऐसा करते हुए उसने किसी भी वस्तु या तत्त्व को उपेक्षित नहीं समझा है। फिर उपेक्षित तत्त्वों का अर्थ केवल उन तत्त्वों से ही तो नहीं है, जिन्हें प्रयोगवादी अपनाते है। कवि ने विचार या दृश्यजगत् के उन सभी तत्त्वो को लेकर एक नई दृष्टि से विचार किया है, जिन्हें हम आम तौर पर बिना विचार किये ही स्वीकृत सत्य मान बैठते हैं, और जिनके विषय में नये विचार करने को तैयार नहीं होते। यदि यहां कवि को प्रयोगवादी कहना उचित ही है, तो वह इस कारण कि उसने हर बात पर विचार करते हुए एक नई दृष्टि दी है। कह सकते हैं कि ये कवि की मुक्तक दृष्टियां हैं। कवि किसी भी चीज को, उसके भौतिक रूप में ही स्वीकार न करके, उसके प्रतीक रूप को लेकर बढ़ा है। दार्शनिक अथवा भौतिक कोई भी विषय उससे बचा नहीं है। उपमाएं सर्वथा नई हैं। 'कला और बूढ़ा चांद' एवं 'लोकायतन' इस दृष्टि से एक धरातल पर ही हैं, यद्यपि दूसरे में चिन्तन अधिक है।

एकसूत्रता—इस प्रकार कवि अनेक वादों और अवस्थाओं को पार करने के बाद भी अपनी मौलिकता और आन्तरिक दृष्टि की विशेषता को छोड़ नहीं पाया है। उसकी रुचि सदा ही जीवन के आन्तरिक सत्यों को ढूंढ निकालने की ओर रही है। हां, ये आन्तरिक सत्य समय-समय पर नाना रूप धरकर अवश्य सामने आते रहे हैं। इस प्रकार सब वादों को पार करके भी वह किसी एक वाद का नहीं बन पाया है, और सब प्रकार की काव्य-रचना करके भी किसी एक 'शैली' तक ही सीमित नहीं

रह गया है। उसका काव्य हर दृष्टि से परीक्षण का काव्य रहा है। उसने कहीं भी प्रतिनिधित्व की भावना या प्रयत्न नहीं दिखाया है।

कला की दृष्टि से भी यही कुछ कहा जा सकता है। वह आरम्भ से अंत तक 'कल्पना' और 'कला' का सर्वाधिक कोमल कवि स्वीकार किया जाता रहा है। उसने, दूसरों की अनुकृति की अपेक्षा, सदा ही अपना पथ खोज लिया है। उसका पथ कोमलता का रहा है। कुछ ने उसे मधुरता से भरा भी कहा है। परन्तु, सौन्दर्य और कोमलता के धनी इस कवि के जीवन में मधुरता उसकी दार्शनिकता के कारण, कम ही आ पाई है। प्रभाव या वातावरण की मधुरता का यहां अभिप्राय नहीं है।

आज हिन्दी काव्य जिस धरातल पर पहुंचा है, वहां पंत वयोवृद्ध होकर भी वृद्ध प्रतीत नहीं होते। युग के साथ-साथ उन्होंने अपनी गति स्वतंत्र रूप में जारी रखी है। किन्तु, वे इतने से ही युग-प्रतिनिधि भी नहीं बन जाते। उनका प्रतिनिधित्व, युग के अनुरूप न होकर, अपनी काव्य-चेतना की स्वतंत्र दिशा में ही रहा है। उन्होंने युग की भौतिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों का भी खुले रूप में अनुकरण या आलोचन नहीं किया। फिर उन्हें युग-प्रतिनिधि या युगकवि कहना कैसे उचित ठहराया जा सकता है? हां, इस दृष्टि से वे युगकवि अवश्य हैं कि इस सम्पूर्ण युग के वे प्रसिद्धतम विचारक कवि रहे हैं।

एक और दृष्टि से उन्हें युग-कवि कहा जा सकता है। 'लोकायतन' नामक' ६४ के अपने नवीनतम महाकाव्य को उहोंने युग-जीवन का महाकाव्य कहा है। उसमें कवि ने अपने युग पर खुला विचार किया है। यह निरीक्षण फिर भी तटस्थ आलोचक का ही रहा है। हमारी दृष्टि में युगकवि युग-निर्देशक या युग-प्रभावक होता है, युग-विवेचक नहीं।

इस सबके बिना भी उनका अपना महत्त्व है ही।

२

युग और प्रभाव

छायावाद के दो कवि—छायावाद युग के कवियों में से पंत और महादेवी ये दो ही ऐसे कवि हैं, जो आज भी, युगों बीत जाने पर भी, अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी-साहित्य का भंडार भर रहे हैं। इन दोनों ही कवियों के काव्य में साधना की एक गहरी झलक है। महादेवी आरम्भ से अब तक एक ही पथ की पथिका रही हैं, जब कि 'पंत' साधना की कई मंजिलें पार चुके हैं। 'गुप्त' जी प्राचीनता की दृष्टि से, इनसे भी अधिक पुराने कवि ठहरते हैं। परन्तु, उनके काव्य में, आयु की अधिकता के कारण, कुछ अधिक जड़ता आगई है। उनकी लेखनी की गति को उनके भाई की अकाल मृत्यु ने बिलकुल ही रोक दिया है। परन्तु, व्यक्तिगत राग-विराग के बन्धनों से मुक्त ये दोनों कवि आज भी अपनी साहित्य-साधना में लगे हुए हैं। उनके विचारों में प्रौढ़ता भले ही आती गई है, तो भी उनके लिखने में कुछ ऐसी बात है, जो उन्हें चिर-पुराण और चिर-नवीन का मिला-जुला रूप बना देती है।

'दर्शन' और 'सुन्दर'—यह बात कम महत्व की नहीं है। 'पंत' अपने काव्य में कुछ अधिक व्यापक भूमिका पर बढ़े हैं। उनके काव्य-विकास में एक लड़ी या क्रम को खोज निकालना उतना अधिक सम्भव नहीं है, जितना कि महादेवी के काव्य में। 'पंत' ने अपने कवि-जीवन के विविध चरणों में विविध युगों का प्रतिनिधित्व किया है। वे जीवन के प्रति खुली दृष्टि लेकर उतना नहीं चले हैं, जितना कि विविध दर्शनों के

प्रति । उनके काव्य में कहीं-कहीं दर्शनों के कारण शिथिलता भी आ गई है । फिर भी उनके काव्य में कुछ ऐसी बात है कि जो आज भी उसका महत्त्व घटने नहीं देती । पंत ने आरम्भ से ही काव्य में 'सुन्दर' का जो महत्त्व स्थापित किया है, वह आज तक भी अपना रूप बदल कर किसी न किसी रूप में उसके काव्य में स्थित है । हां, इतना अवश्य है कि यह 'सुन्दर' आरम्भ में कल्पनाओं और भाषा के कारण था, और आज यह भावना के कारण स्थायी बन चुका है ।

सौन्दर्य के उपासक—पंत ने जिस युग से कविता रचना आरम्भ की, उस युग में भाषा और विचार दोनों ही दृष्टियों से विद्रोह की एक भावना घर कर चुकी थी । विद्रोह के उस युग को लाने में स्वयं 'पंत' का भी अपना हाथ था । पंत को आरम्भ से ही कोमल भावनाओं और कोमलतम भाषा का कवि माना गया है । पंत आरम्भ से प्रकृति के सौन्दर्य को देखते हुए बढ़े । आज तक भी वे एक सौन्दर्य की खोज में ही चल रहे हैं । अन्तर यहीं आ जाता है कि उनके काव्य का स्वर भले ही पहला न रहा हो, किन्तु उनका यह सौन्दर्य बाहर से अन्दर की ओर —भाषा और कल्पना से भावना की ओर—बढ़ता ही रहा है । पंत इस प्रकार हिन्दी काव्य में कोमलता और सुन्दरता के प्रतिनिधि कवि माने जा सकते हैं ।

कवि और आलोचक—पंत ने अपने कवि जीवन में काव्य के सभी प्रयोग किये है । यह एक संयोग की बात है कि उनकी अधिक आर-म्भिक रचनाओं में से कुछ मुक्तक छन्द में लिखी गई थीं । इसके विपरीत उन्होंने उसी समय 'निराला' के मुक्त-छन्दों का विरोध किया था । आज 'पंत' के लिए छन्द का बन्धन आवश्यक नहीं रह गया है । उनका आग्रह भी किसी विशेष छन्द के लिए नहीं रहा है । उन्होंने बहुत शीघ्र ही 'कल्पना के कवि' का पद छोड़ कर, 'विचारक कवि' का पद ग्रहण कर लिया था । उनके विचारक रूप के दर्शन हम उनके विवेचनात्मक गद्य और 'लोकायतन' में में कर सकते हैं । पंत ने अपने काव्य की भूमिकाओं

के रूप में जो कुछ लिखा, उसे ही 'गद्य-पथ' आदि के रूप में अलग से संकलित करवा दिया। इस प्रकार, हमें उनके कवि और आलोचक दोनों ही रूप मिलते हैं। उन्होंने इन दोनों ही रूपों में अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

राजनैतिक-पृष्ठभूमि—पंत ने अपनी कविता का आरम्भ सन् १९१७ के आसपास किया। तब से लेकर आज तक उन्होंने काव्य के कई चरण पार किये हैं। इन सभी चरणों में वे अपने चारों ओर के युग से किसी न किसी रूप में प्रभावित रहे हैं। सन् '१७ में अभी संसार का प्रथम महायुद्ध समाप्त नहीं हुआ था। संसार में चारों ओर अशान्ति ही अशान्ति छाई हुई थी। यूरोप का कवि इस प्रकार की अशांति से भाग कर सच्ची शांति का मतवाला हो उठा था। दुनिया की बाहरी कृत्रिमता का भयानक रूप उसके सामने आ चुका था। वह इसमें बचकर सौन्दर्य को खोजने के लिए मतवाला हो उठा था। अमरीका का कवि भी इसी दिशा में चल रहा था। ऐसे समय भारत की स्थिति कुछ भिन्न थी। भारत अपनी स्वतन्त्रता के संग्राम में उलझा हुआ था। उसके सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित था।

इस पर भी गांधी जी समझौते की नीति पर चल रहे थे। इस प्रकार उन्होंने देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन में कुछ ऊपरी शांति ला दी थी। किन्तु अन्दर ही अन्दर देश के सभी वर्ग आज़ादी के लिए उतावले थे। सशस्त्र क्रांतिकारियों ने अपना आन्दोलन तीव्र अवश्य कर दिया था, किन्तु वे उसमें सफल नहीं हुए थे। विदेशों से भी इस आन्दोलन में सहायता मिल रही थी। कुछ देशवासियों ने अफगानिस्तान और जर्मनी आदि देशों से सहायता लेने का प्रयत्न किया था, पर वे इस विषय में सफल नहीं हो पाये थे। इसके साथ ही देश के बहुत से विचारक और नेता खुले तौर पर क्रांति के पक्ष में थे। इसी राजनैतिक पृष्ठभूमि पर श्री सुमित्रानन्दन पंत कविता के क्षेत्र में उतरे।

साहित्यिक पृष्ठभूमि—देश का साहित्यकार इस समय पूरी तरह जागा नहीं था। आधुनिक देशी भाषाओं में सामान्य जन-जीवन को

लेकर कविता और साहित्य लिखने का प्रयत्न अभी कुछ दिन पहले से ही आरम्भ हुआ था। विशेषकर गद्य की प्रगति बहुत आधुनिक समय में हुई थी। ऐसे समय प्रायः सभी साहित्यकार—सभी भाषाओं के साहित्यकार— अपनी-अपनी शैली को मांजने और निखारने में लगे हुए थे। उनके सामने वक्तव्य-वस्तु की पूर्णता और नवीनता उतनी मुख्य नहीं थी, जितनी अभिव्यक्ति की कुशलता। बंगला भाषा को छोड़कर और किसी भी भाषा में, गद्य और पद्य में, तब तक समान निखार नहीं आया था। इसलिए वक्तव्य की नवीनता बंगला तक ही सीमित रही। विषय अवश्य नये-नये प्रयोग होने लगे, परन्तु इससे अधिक और कोई विशेष बात न हुई। सच तो यह है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी लेखकों के, पाठशाला की तरह, शिक्षण की जो परम्परा चलाई, वह शैली के नये द्वार खोलने के स्थान पर उसे अधिक कड़ी बनाने में सहायक हुई। 'छायावादी कवियों' ने द्विवेदी युग की भाषा के प्रति विद्रोह किया —यह कहना इसी रूप में उचित है कि वे उस बंधी-बंधाई लीक पर चलकर अपने को अभिव्यक्ति में पूरी तरह सफल नहीं पा रहे थे। इसलिए उन्होंने एक नई सरणि खोज निकाली। यह सरणि ही आगे चलकर 'छायावादी शैली' के रूप में कहलाई।

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शैली के इस अन्तर को देखकर ही छायावाद को 'शैली का ही एक भेद' स्वीकार किया था। वास्तव में छायावाद के कवियों ने केवल एक नई शैली को ही नहीं खोजा। उनकी क्रांति भावना के क्षेत्र में भी अधिक महत्त्वपूर्ण रही। उसका उद्देश्य अभिव्यक्ति को पूर्णतम बनाना अवश्य था, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल नई शैली के अपनाने से ही अभिव्यक्ति पूर्णतम बन सकती थी। अभिव्यक्ति की पूर्णता आती है भावनाओं या वक्तव्य-वस्तु के पूरे और उन्मुक्त प्रवाह के कारण।

उन्मुक्त और विद्रोह—छायावादी कवियों ने इसी भावना को उन्मुक्त करना अपना ध्येय समझा। जब कवि अपनी भावना की पूर्णता के

लिए लालायित हो उठता है, तब उसे भाषा के किसी भी बंधन को मानने की चाह नहीं रहती। वह उन्मुक्त होकर अपने मार्ग पर बढ़ निकलता है। छायावादी कवियों की शैली इस भावना की उन्मुक्ति की राह में पड़ने वाला एक पड़ाव ही है।

भावनाओं की इस उन्मुक्ति की भी अनेक व्याख्याएं की गई हैं। कुछ आलोचकों ने इसे भी द्विवेदी युग की जकड़ाहट के विरोध में ही उत्पन्न बताया, और कुछ ने इसे कवियों की दबी हुई मानसिक स्थिति का उन्मुक्ति की ओर प्रयासमात्र स्वीकार किया। '**महादेवी वर्मा**' के संबंध में लिखते हुए 'छायावाद और महादेवी' नामक अध्याय में हमने यह स्पष्ट किया है कि छायावाद वास्तव में किसी विरोध या प्रतिक्रिया से जन्म लेने वाली वस्तु न होकर, आत्मा का विश्वास बनकर निकलने वाली एक काव्य-सरणि है। यह बात पूरी तरह समझ लेनी आवश्यक है। महादेवी के काव्य में उनके नारी सुलभ वचनों के आधार पर यह विश्वास कर लेना सम्भव स्वीकार किया जाएगा, किन्तु पंत और निराला को किसी न किसी आधार पर 'प्रतिक्रिया में बढ़ने वाला' ही माना जाएगा। त्रुटि तो वहां आ जाती है, जब ऐसे कवि स्वयं अपनी कविता का मूल ऐसी ही प्रतिक्रिया को उद्घोषित करते हैं।

हम यहां यह निवेदन करना अधिक उचित समझेंगे कि इस प्रश्न पर हमें वस्तुस्थिति का अधिक ध्यान रखना चाहिए। पंत ने जिस समय लिखना आरम्भ किया, उस समय उनका वातावरण हिन्दी कविता और उसमें चल रहे वादों से उतना प्रभावित नहीं था, जितना कि अपने चारों ओर पाए जाने वाले प्राकृतिक वातावरण और शैली तथा टेनीसन की उन्मादक कविता से अधिक प्रभावित था। अगर इन वातावरणों में रहकर स्वयं उसकी कविता-धारा उन्मुक्त होकर सजावट भरी शैली में स्वतः न निकल पड़ती, और मस्ती के उन क्षणों में वह अधिक से अधिक संक्षेप में व्यापक से व्यापक बात कहने का प्रयत्न न कर बैठता, तो और किस विधि से वह अपनी भावनाओं को व्यक्त करता ?

'निराला' के साथ भी स्थिति यही कुछ थी। वह जिन भावनाओं को पहले से ही पढ़ता आ रहा था, और बंगला के जिस सतेज और उन्मादक साहित्य से वह निकट सम्पर्क में आया, उनके प्रभाव ने स्वयं ही उसके अन्दर एक सामर्थ्य भर दी। यह कहना कि इन्होंने आरम्भिक कविताएं हिन्दी की शैली के गतिरोध और भावनाओं की जड़ता को तोड़ने के लिए लिखीं, सर्वथा गलत है।

वास्तव में तो इन कवियों ने उस समय हिन्दी की तत्कालीन कविताओं से अधिक प्रेरणा ग्रहण भी की थी या नहीं, इस बात में ही संदेह है। सच यह है कि सभी छायावादी कवि भावना या ज्ञान की दृष्टि से इतने प्रबुद्ध थे कि उनकी भावनाएं बंधी-बंधाई लीक पर चल ही नहीं सकती थी। अनुसरण उनकी प्रकृति ही न था। अपने इतिहास-ग्रंथ 'हिन्दी साहित्यानुशीलन' में हम इस बात को अधिक स्पष्ट कर आए हैं कि भारतीय संस्कृति के तीन संयोजक तत्त्वों में **विद्रोह** का स्थान **समन्वय** और **स्वतन्त्रता** के तत्त्वों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यही वह तत्त्व है जो आत्मा की स्वतन्त्रता और उसकी अनवरत उन्मुक्ति की साधना में योग देता है। यदि कवि सच्चे रूप में उन्मुक्त है अथवा उन्मुक्ति की दिशा में बढ़ने का इच्छुक है, तब वह किसी भी रूप में, बँधी-बँधाई परम्परा में न चलकर, अपना पथ खोजने का प्रयास करता है। इसीलिए कवि को जन्मना-विद्रोही स्वीकार किया गया है।

उन्मुक्ति प्रक्रिया का आरम्भ—इस विद्रोह का आरम्भ कब से हुआ, इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल **श्रीधर पाठक** और उनसे भी पहले **घनानंद** का नाम लेते हैं। परन्तु ऐसा कहते हुए उनका ध्यान शैली की ओर ही रहा है। सच यह है कि केवल शैली के बल पर कोई भी कवि उस प्रकार की मुक्ति का मन्त्रदाता नहीं माना जा सकता। ये दोनों कवि भावना की मुक्ति की दृष्टि से भी अपने युग से अलग और ऊँचे थे। तब फिर मुकुटधर पाण्डेय और मैथिलीशरण गुप्त आदि के नाम इस विषय में लेकर यह सिद्ध किया जाता है कि छायावाद इन नवयुवक कवियों की

ही देन नहीं था। यह सब प्रयास इस बात को स्पष्ट कर देता है कि द्विवेदी युग की कठोरता का हाथ छायावाद की प्रगति को तीव्र करने में भले ही हो, उसे जन्म देने में उसका कोई योगदान नहीं है। यह बात अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि गुप्त जी और पांडेय जी की जिन रचनाओं के कारण उन्हें छायावाद का उद्घोषक स्वीकार किया जाता है, वे रचनाएं स्वयं किसी भाव-मुक्ति की दशा में भले ही लिखी गई हों, किसी बंधन की प्रतिक्रिया से उनका सम्बन्ध नहीं बैठता। भावनाओं की उन्मुक्ति का प्रथम उद्घोष भारतेन्दु ने किया था, परन्तु उनके विषय सामाजिक अधिक रहे। उनमें वर्णनात्मक वृत्ति का आ जाना स्वाभाविक ही था। इसीलिए श्रीधर पाठक को ही यह गौरव मिलना शेष था कि वे भावनाओं के उन्मुक्त कवि स्वीकार किए जाएँ।

यह सब कहने का अभिप्राय इतना ही है कि इस बात पर बल दिया जा सके कि निराला, पन्त, महादेवी और, इन सबके अग्रणी, प्रसाद ने छायावाद के जिस पथ को प्रशस्त किया, वह द्विवेदी युग की किसी विशेष प्रकार की साहित्यिक जड़ता की प्रतिक्रिया का परिणाममात्र नहीं था। हां, भावनाओं की उन्मुक्ति को लेकर इन स्वतन्त्रचेता कवियों ने जब अपनी भावनाओं के अनुरूप भाषा और शैली को खोज निकाला, अथवा उसे कभी बंगला और अंग्रेजी के प्रभाव से अनुकरण की पद्धति पर आविष्कृत किया, तब द्विवेदी युग के अधिकांश जकड़ाहट भरे काव्य ने उस शैली के प्रति इनकी घृणा और नवीन के प्रति इनके मोह को बढ़ाने में सहायता मात्र की।

प्रतिक्रियात्मक प्रभाव—इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि से पन्त ने जिस युग में कविताएँ लिखनी आरम्भ कीं, उसमें आरम्भ से ही उन पर किसी प्रकार के प्रतिक्रियात्मक प्रभाव को स्वीकार करना उचित नहीं लगता। उनका निज का अध्ययन, चारों ओर का प्राकृतिक वातावरण, और निज का संकोची स्वभाव ही उनके विषय और शैली के चुनाव में सहायक हुए। भावना और अभिव्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार किए

बिना यह बात उपहासास्पद ही प्रतीत होगी।

युग-परिस्थितियों का सम्बन्ध—विषयों के चुनाव का सम्बन्ध उस समय की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों से जोड़ने का प्रयत्न भी गलत होगा। महादेवी, निराला और पन्त की आरम्भिक कविता को देखकर आलोचक मन पर पहला प्रभाव उनकी पलायनवादी प्रवृत्ति का पड़ता है। सच्चाई यह है कि ये कवि युग की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दशा के प्रति, राजनीतिज्ञ की भांति, उत्सुक नहीं थे; पर फिर भी इनके मन में इन सबके प्रति एक प्रतिक्रिया अवश्य विद्यमान थी। वाणी में प्रत्यक्ष विरोध का बल नहीं था, और युग में अन्य कवियों के समान नारेबाजी की आदत से वे प्रभावित नहीं थे। अपनी प्रतिक्रिया को एक तटस्थ निरीक्षक की भांति प्रस्तुत कर देना ही उनका लक्ष्य बन गया। महादेवी ने उस सारी पीड़ा को आत्मपीड़ा से एकाकार कर दिया। निराला ने उस सबके प्रति कुछ बाद में चलकर कुछ अधिक उग्र शब्दों में विरोध प्रगट किया। परन्तु पन्त इन दोनों से ही कुछ भिन्न प्रकृति के निकले। उन्होंने स्वयं को प्रकृति से कुछ इस तरह एकाकार कर दिया कि वे जगत् के विस्तार को 'मायाजाल' समझने लगे, और स्वयं को प्रकृति के 'बाल-जाल' में उलझा बैठे। यह उनकी पलायनवादी वृत्ति थी। बाद में आने वाले 'नवीन' और कुछ अन्य कवियों के ऐसे ही स्वरों ने छायावादी कविता को पलायनवादी सिद्ध कर दिया। पर सच यह है कि छायावाद का जन्म पलायन की वृत्ति से नहीं हुआ था। उसका जन्म तो एक विशेष निष्ठा से हुआ था। कवि जब किसी सत्य को आग्रहपूर्वक अपना लेता है, तभी वह किसी भी भावना से अपने को एकाकार करने में समर्थ हो पाता है।

पलायन और परिपक्वता—पन्त के चरण बढ़ने लगे। आयु के साथ-साथ उसका अध्ययन भी बढ़ा। परन्तु जीवन के प्रति पलायन की उसकी वृत्ति कम न हुई। वह पुस्तकों तक और अपने प्राकृतिक परिवेश तक ही सीमित रहा। अध्ययन करने वाले एक मनीषी की भांति उसका सम्पूर्ण

निरीक्षण तटस्थ ही रहा। उसने कहीं भी स्वयं को भावना के साथ एक नहीं कर दिया। अपने और अपने निरीक्षण के बीच उसने सदा एक अन्तर बनाए रखा। यह उसकी पलायनवादी प्रकृति के कारण ही था। उसने इस कारण दार्शनिक प्रश्नों पर विचार किया, और उस विचार में दार्शनिक तटस्थता रखी कि उसका स्वभाव दुनिया के संघर्ष से मेल नहीं खाता था। यह बात उसके सारे काव्य की दिशा को निश्चित करने वाली सिद्ध हुई। बचपन में उसने स्वामी विवेकानन्द के दर्शन किए थे। अब वह उनके ग्रंथों का अध्ययन करने लगा। उसने अपने कुछ निष्कर्ष तो न निकाले, किन्तु अपनी पाद टिप्पणी उसके साथ अवश्य जोड़ दी।

'गुंजन' से पहले की रचनाएं उसकी प्रकृति की ओर व्यक्त होने-वाली निष्ठा का परिणाम हैं। परन्तु 'गुंजन' में वह दार्शनिक हो उठा। इससे पहले 'पल्लव' की 'परिवर्त्तन' कविता में भी वह वेदान्त दर्शन से अधिक प्रभावित रहा है। यह प्रभाव स्वामी विवेकानन्द के कारण ही पड़ा था। परन्तु, स्वयं विवेकानन्द उपनिषदों और वेदों के प्रवृत्तिवाद के प्रबल समर्थक थे। इस कारण कवि ने भी वेदान्त के बाहरी ढांचे को छोड़कर शीघ्र ही उसके आन्तरिक और गरिमाशाली रूप को समझने के लिए अन्य दर्शनों का अध्ययन आरम्भ कर दिया। इन दर्शनों ने उसके हृदय में एक नयी उत्कण्ठा को जन्म दिया। जिस प्रकृति को वेदान्त के प्रभाव में वह अपने आरम्भिक सुन्दर रूप की अपेक्षा 'सुन्दर और विनाशशील' मान बैठा था, उसे ही अब इस जगत् का एक अनिवार्य और सुन्दरतम अंग मान बैठा। उसने ईश्वर और आत्मा को जगत् में एकता का सूत्र स्थापित करने वाला स्वीकार किया। इसके बाद आत्मा की नित्यता को खोजते हुए उसे जगत् का हर कण सुन्दरता से भरा हुआ लगने लगा। 'गुंजन' का यही दार्शनिक पहलू है।

देश की स्थिति और कवि—यह समय सन् १९२८ से सन् १९३३-३४ तक के बीच का बैठता है। इस समय देश की राजनैतिक स्थिति में

थोड़ा-बहुत ही परिवर्तन आया था। स्वतन्त्रता के आन्दोलन तीव्र गति से बढ़ते जा रहे थे। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित किया। गांधी जी ने सन् '३०-३१ में सत्याग्रह का नेतृत्व किया। तभी अंग्रेजों के साथ उनका समझौता और गोलमेज़ कान्फ्रेंस भी हुई। इधर सशस्त्र क्रांतिकारियों ने गांधी जी के कहने पर हथियार डालने शुरू कर दिये, और उधर अन्तिम क्रान्तिकारी युवक को फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया।

परन्तु यह सब बात कवि के लिए कोई विशेष प्रभावकारी सिद्ध न हुई। उसके तटस्थ और संकोची व्यक्तित्व ने उसे अखबारों की दुनिया के पास न आने दिया। देश की राजनैतिक दशा को वह दूर से ही अध्ययन करता रहा। उसके पास तक वह न आया। इसीलिए उसके काव्य में हम देश की दशा के प्रति किसी प्रकार की प्रबुद्ध चेतना के दर्शन नहीं पाते। हां, एक बात अवश्य है वह यह कि दर्शन के प्रति उसका झुकाव और भारतीयता के सिद्धान्त के प्रति उसकी रुचि स्वयं इस बात की द्योतक है कि वह धीरे-धीरे अपनी संस्कृति और अपने देश की चेतना को समझने लगा था।

समाजवाद का आगमन—नया युग पलटा। अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्तों का प्रसार सारे विश्व में हो चुका था। उसके अधीन बहुत से आन्दोलन उठ खड़े हुए थे। इस देश में भी समाजवादी आन्दोलनों ने जन्म लेना शुरू किया। परन्तु पंत समाजवाद की ओर किसी राजनैतिक कारण से न झुके। उनके झुकने का कारण बौद्धिक ही था। उन्होंने एक तटस्थ निरीक्षक की भांति समाजवादी सिद्धातों का अध्ययन किया। परिणाम रूप में उन्होंने आरम्भ में सिद्धान्तों का अनुवाद ही अपने काव्य में किया। परन्तु एक ओर वे सैद्धान्तिक रूप में समाजवाद की ओर आकृष्ट हुए, और दूसरी ओर उन्हें देश की दशा का भी ध्यान आया। अब भी उनका यह ध्यान एक राजनैतिक नेता की भांति नहीं खिचा था। एक ऐसे व्यक्ति की भांति जो स्वयं सुखों के घेरे में रहा है, उनका

ध्यान राष्ट्र के दुखी लोगों एवं स्वयं राष्ट्र की ओर खिंचा। 'भारतमाता ग्राम प्रवासिनी' या इसी प्रकार की और कविताएं इस बात को और अधिक स्पष्ट कर सकती हैं। इससे बहुत पहले अन्य कवि देश प्रेम के गीत गा चुके थे। स्वाभावतः कवि के ये गीत देश-प्रेम के कारण नहीं उमड़े थे; बल्कि इस कारण कि सन् '३४ से '४० के बीच रहने वाली देश-दशा ने उसे कचोटकर जगा दिया था कि जिस समाजवाद के गीत वह गाना चाहता था, उससे देश और उसके लोगों की स्थिति को अलग नहीं किया जा सकता। सामाजवाद चाहे सैद्धान्तिक हो या उसके प्रति क्रियात्मक निष्ठा रही हो; जन-जीवन के साथ और देश की राजनैतिक स्थिति के साथ उसकी तुलना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य थी। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि पंत इस विषय में अधिक नहीं उलझे। उन्होंने एक बार भी देश के स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रति व्यथित सहानुभूति नहीं दिखाई, और न ही उन्होंने श्रमिकों के आन्दोलनों के प्रति कोई उग्र सहानुभूति दिखाई।

इस युग को, साहित्य के क्षेत्र में, 'प्रगतिवाद का युग' कहा जाता है। इस युग में ही कांग्रेस ने प्रथम बार सत्ता अपने हाथों में ली और, द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ जाने पर, उसे छोड़ भी दिया। देश ने अपनी स्वतंत्रता की एक हल्की सी झांकी भी देख ली। यूरोप में अन्याय और अत्याचार का बहुत तेज बलबला उठा और हिटलर का नाम एक डर के रूप में सारी दुनिया में छा गया। पर 'पंत' अपने सुख के संसार और पुस्तकों के दायरे से सर्वथा बाहर न आ सके। उन्होंने अब भी जो कुछ लिखा, वह न तो पूरी तरह प्रगतिवादियों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है, और न ही उसमें शैली या अन्य किसी दृष्टि से सम-सामयिकता खोजी जा सकती है। उनके संपूर्ण साहित्य में यदि कुछ भी इस युग में आकर्षक दीखता है, तो उनके वे कुछ गीत हैं, जिनमें उन्होंने निर्धनता की तुलना संसार की विषम परिस्थितियों के साथ की है। वह विलास और वैभव के चिन्हों को एक नये ही ढंग से देखते हैं। सन् '४० को भी

उन्होंने पूरी विभीषिका के साथ ग्रहण नहीं किया। यही कारण है कि प्रगतिवादी उन्हें अपने वर्ग में गिनने को तैयार नहीं हुए, और न ही उनके तत्कालीन साहित्य को प्रगतिवादी शैली का प्रतिनिधि साहित्य माना गया।

नया मोड़ : अरविन्द का प्रभाव—सन् '४२ के बाद कवि स्वयं एकान्तमें ही नहीं रहा, बल्कि बीमारी के कारण उसे बलात् एकान्त-चिंतन भी आरम्भ करना पड़ा। इस समय उसे अपने जीवन तक से निराशा हो गई थी। यही समय भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम की दृष्टि से सबसे अधिक महत्व का रहा। सन् '४२ का भारत छोड़ो आन्दोलन, सन् '४३ का आजाद हिंद फौज का युद्ध, सन् '४३ में ही होने वाली गांधी-जिन्ना वार्ता, और सन् '४५ में आने वाले 'ब्रिटिश मंत्रि-मिशन', स्वतंत्रता की चर्चा, एवं विश्वयुद्ध की समाप्ति, आदि कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जो एक के बाद दूसरी अनवरत रूप में घटती गईं, और जिन्होंने सारे देश का और विश्व का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। पर, कवि का ध्यान इधर अब भी न खिचा। उसे अपनी मृत्यु का अन्धकार सामने नज़र आया। इसी समय 'अरविन्द-दर्शन' ने स्वर्ण की किरण बनकर अपना जादूभरा प्रभाव दिखाया। यूँ तो अरविन्द-दर्शन स्वयं ही मानव की स्वतंत्र चेतना का सबसे बड़ा प्रहरी है। अरविन्द स्वयं आरम्भ से अन्त तक भारत की स्वतंत्रता के सबसे बड़े हामी रहे। पर इस पर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि उनके दर्शन ने जो आशा की किरण कवि के मन में जगाई, वह आरम्भ में केवल बौद्धिक स्तर तक ही रही। कवि इस बात को देश की स्वतंत्रता के साथ संगति न दे सका। एक-आध गीत लिख देना कुछ और बात है, पर उसका उल्लास अपने अन्दर अनुभव करना कुछ और बात है। जीवन से अछूता कवि अब भी अप्रभावित ही रहा। दो-चार स्वातंत्र्य गीत या लोकानुगामी रचनाएं लिखकर वह अपने को 'जन-कवि' कहलाने का अधिकारी नहीं समझ सकता था। कदाचित् उसकी इच्छा कभी इस प्रकार की रही भी नहीं थी।

वह सदा चाहता अवश्य रहा है कि चारों ओर उन्मुक्ति और स्वतंत्रता हो, परन्तु यह उन्मुक्ति और स्वतंत्रता देश की उन्मुक्ति स्वतंत्रता से किसी भी प्रकार सम्बन्ध नहीं रखती।

नवीनतम प्रयोग—अपनी नवीनतम कृतियों में पंत ने सामान्य जनों को देखना शुरू किया है। 'लोकायतन' काव्य इसी का परिणाम है। पर इसमें भी अन्तर यही है कि उनकी बाह्य दृष्टि की अपेक्षा आन्तरिक दृष्टि ही प्रधान रही है। वह ग्राम-बालाओं और भारत के विविध उपेक्षित तत्त्वों के साथ ही साथ मानवता से सम्बद्ध अनेक प्रश्नों पर विचार करता रहे हैं। इस पर भी उनकी भाषा दार्शनिक की सी गहन होती गई है। जो सरलता आरम्भ में उनकी कविता में थी, वह अब मिट चुकी है। केवल कुछ उर्दू के शब्द प्रयोग कर लेने से अथवा कुछ वस्तुओं के प्रति अपनी भावनाएं प्रगट कर देने से ही कोई कवि 'जन-कवि' नहीं कहला सकता। 'कला और बूढ़ा' चांद और 'लोकायतन' में कवि ने अपना ऐसा ही जन-प्रिय रूप दिखाया है। उसमें नये भारत की निर्माण-चेतना के दर्शन गहरे पैठकर किए जा सकते हैं। केवल शीर्षकों से ही किसी काव्य को जन-जीवन की प्रतिनिधि रचना सिद्ध नहीं करना चाहिए। 'स्वर्णधूलि' से 'अतिमा' तक की उनकी यात्रा 'अरविन्द-दर्शन' के बल पर चली थी। परन्तु 'कला और बूढ़ा चांद' तथा उसके बाद की रचनाएं जन-प्रियता के इस नए मोड़ पर ही बढ़ रही हैं। पर यहां कवि अधिक सफल नहीं गिना जा सकता।

संक्षेप—इस प्रकार हम कह सकते हैं कि युग बदलते गए और अधिक से अधिक बहिर्मुख होते गए, किन्तु कवि पंत अधिक से अधिक तटस्थ और अन्तर्मुख होते गए हैं। उन्होंने स्वयं को कभी 'पलायनवादी' स्वीकार किया था। आज हम भी उन्हें इसी नाम से पुकार सकते हैं। युग की ओर बार-बार मुड़ने का प्रयत्न करके भी वह उसकी ओर पूरी तरह झुक नहीं पाए हैं।

३

काव्य-विकास

गत अध्याय में हम यह स्पष्ट कर आए हैं कि पंत के काव्य-विकास की पृष्ठ-भूमि क्या है । यहां हम उसके काव्य-विकास पर विचार करेंगे ।

विविधता में एकता—पंत ने प्रकृति-रमणी की गोद में अपना बचपन और अपनी किशोरावस्था बिताई । प्रकृति की हरियाली और रंगीनी ने उसे चारों ओर से कुछ इस प्रकार घेर लिया कि वह उसके प्यार में खिचा और मुग्ध-सा रह गया । स्कूली शिक्षा के अभाव को पूरा किया उसके अध्ययन ने, और वह स्वाध्याय के द्वारा उन नये मार्गों पर बढ़ चला, जिन्होंने उसके काव्य-भविष्य को निश्चित किया । तब से लेकर पंत का काव्य अनेक दिशाओं में पलट चुका है । और, आज जीवन की संध्यावेला में कवि जिस अवस्था में पहुंचा है, उसमें पहली अवस्था से पर्याप्त अन्तर आ गया है । यह बात स्वयं कुछ अजीब सी लगती है, पर फिर भी यह सत्य है कि किसी कवि ने अपने जीवन में इतने मोड़ न देखे होंगे, जितने पंत ने अपने कवि-जीवन में देखे और अनुभव किए हैं । पंत के काव्य का विकास स्वयं ऐसी धाराओं और दिशाओं से होकर बहा और बढ़ा है, जो कदाचित् परस्पर विरोधी सी दिखाई देती हैं । परन्तु इस पर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि पंत के काव्य में विकास की एक अन्तर्धारा, एकता के सूत्र के रूप में, पूरी तरह मौजूद है । इन विरोधी चरणों में भी उसके विकास की शृंखलाओं को एक क्रमबद्ध सूत्र के साथ जुड़ा हुआ पाया जा सकता है ।

वहिर्मुख से अन्तर्मुख—वास्तव में पंत की इस कविता यात्रा को हम **वहिर्मुख से अंतर्मुख जीवन की ओर** एक यात्रा कह सकते हैं। सच तो यह है कि पंत में आरम्भ से ही एक प्रकार की अंतर्दृष्टि रही है, जो क्रमशः अधिकाधिक सौन्दर्य को ग्रहण करती गई है। इन विरोधी अवस्थाओं के वाद भी, पंत का काव्य-विकास उत्तरोत्तर विकसित ही होता गया है। भावनाओं के विकास के साथ-साथ काव्य-शरीर की ओर उनका ध्यान कुछ कम होता गया है। यह वात स्वाभाविक भी थी। हालांकि, अन्तिम कुछ रचनाओं में उन्होंने नये परीक्षणों के प्रति अपनी सजगता दिखाई है, तो भी वह इन परीक्षणों में ही उलझ कर नहीं रह गये हैं। आरम्भ में वे कल्पना के प्रति जितने सजग थे, अन्त में वे यथार्थ के प्रति उतने ही सजग होते गये हैं। अन्तर पड़ा है उनकी दार्शनिक टिप्पणियों में, जो धीरे-धीरे वढ़ती ही गई हैं; यद्यपि उनका दार्शनिक युक्तिक्रम कम-से-कम जटिल पड़ता गया है। उनके काव्य-विकास के विचार में यह वात ध्यान में रखकर ही वढ़ना चाहिए।

विकास की अवस्थाएं—पंत के काव्य-विकास को कुछ अवस्थाओं में वांटा जा सकता है। सवसे **पहली अवस्था** वह है, जिसमें प्रकृति से प्रभावित होकर वे उस पर इतना अधिक आसक्त हो गए हैं कि उन्हें विश्व की कोई भी आसक्ति या रति आकृष्ट नहीं कर पाती। नारी का मोह भी उन्हें वांध नहीं पाता। उनकी **दूसरी अवस्था** दार्शनिक प्रवृत्ति की है। इसमें वे प्रकृति और नारी के प्रेम को महत्त्वहीन समझ कर जीवन और जगत् की वड़ी समस्याओं की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। **तीसरी अवस्था** इसके वाद 'प्रगतिवाद' की आती है। वास्तव में कवि यहां अपने कोरे दार्शनिक तर्क जाल को छोड़ कर, चारों ओर की व्याप्त कठिनाइयों से प्रभावित होकर, प्रगतिवादी सिद्धान्तों और राजनैतिक 'समाजवाद' के अध्ययन में प्रवृत्त होता है। यहां पहली वार उसे जन-जीवन को खुलकर देखने का मौका मिला है; भले ही यह एक तटस्थ दार्शनिक के रूप में ही हुआ है। इसके वाद **चौथी अवस्था** में कवि

अपने जीवन और मरण के संघर्ष में उलझ कर भौतिकवाद में आस्था खो बैठता है। भौतिकवाद की इस आस्था के समाप्त होते ही मानो पन्त की आस्था दरिद्र और शोषित जीवन के प्रति सहानुभूति दिखाने में ही नहीं रह जाती। अब वह नाम रूप से हीन जीवन की विवेचना में लग जाते हैं और जीवन के सामूहिक उत्थान एवं अमरता प्राप्ति के उपायों को खोजने में प्रवृत्त हो जाते हैं। यहीं पर उन्हें योगिराज अरविंद के दर्शन के अध्ययन का पहला मौका मिलता है। उन्हें लगता है कि जैसे भौतिकवाद की कमियों का उत्तर उन्हें मिल गया है। इस समय तक कवि युवावस्था की अस्थिर-चित्त दशा से उतर कर जीवन की प्रौढ़ि तक पहुंच चुका था। उसने जीवन के अनुभव लिये या नहीं लिये, वह कर्मों में उलझा या न उलझा, फिर भी उसने दार्शनिक दृष्टि से कुछ अधिक स्थिरता प्राप्त कर ही ली। उसका चिंतन अनुभूति की मात्रा में कुछ न कुछ अधिक गहरा हो उठा था। इसीलिए, यह अवस्था कवि के जीवन की सबसे लम्बी अवस्था रही है।

परन्तु इधर हाल के कुछ वर्षों में 'पन्त' ने कला और भावना की दृष्टि से कुछ नये प्रयोग किये हैं। 'कला और बूढ़ा चाँद', और उसके बाद की काव्य-रचना इन्हीं नये प्रयोगों की सूचना देती हैं। कवि ने अनुभूति को यहां भी मुक्त कण्ठ से आलिंगित नहीं किया है। वह यहां भी कुछ दूर और तटस्थ सा दीखता है। फिर भी, इतना निश्चित है कि उसकी आँखों ने वह बहुत कुछ देख लिया है, जिसे वह पुस्तकों में उस रूप में नहीं खोज पाया था। एक तटस्थ दार्शनिक की भांति उनने जन-मन के हर्ष और विषाद को पूरी तरह चित्रित किया है। उसके अपने मन का योग न मिलने के कारण ये चित्रण सजीवन तो नहीं लगते, पर फिर भी इनमें कुछ ऐसी बात अवश्य है, जो अत्यधिक आकर्षक और प्रिय लगती है। 'लोकायतन' की दृष्टि में भी यही बात है।

उठते कदम—इस प्रकार कवि ने अपनी कविता यात्रा के अनेक पड़ाव पूरे किए हैं। आज भी वह 'बूढ़ा चाँद' बन कर साहित्याकाश में

चमक रहा है। एक बात निश्चित है : वह यह कि उसका काव्य-विकास उसे किसी भी रूप में, **युग-नेता या युग प्रतिनिधि** कवि सिद्ध नहीं करता। **वह सदा ही एकाकी और स्वतंत्र पथिक बनकर चला है।**

यहां पन्त के काव्य-विकास के हर चरण को पूरी तरह देख लेना उचित ही रहेगा।

प्रथम सोपान—कवि पंत ने अपनी कविता यात्रा का आरम्भ प्रकृति माता की गोद में अठखेलियां करते हुए आरम्भ किया। अलमोड़ा का प्राकृतिक सौन्दर्य और पर्वतीय आनन्द कवि को एक नया ही जीवन देने वाले सिद्ध हुए। बालक के चंचल मन को लिए हुए उत्सुकता से बाल-कवि ने जो कुछ भी चारों ओर देखा, उसमें उसे बहुत कुछ ऐसा दिखाई दिया, जिसे शायद शैली और टैनीसन भी अनुभव न कर सके थे। इस अनुभूति ने उसमें उन दोनों से भी अधिक भावकता भर दी। निश्चय ही उसकी आरम्भिक शैली पर इन आंग्ल कवियों का प्रभाव रहा होगा, किन्तु उसके विचार एक उन्माद के आवेश में फूट पड़े हैं। कवि के कवि-जीवन में केवल यही अवस्था है, जिसमें वह आपे से बाहर होकर कुछ कह सका है। आत्म-विस्मृति के ऐसे क्षण कम कवियों के जीवन में और कम बार ही आया करते हैं। इसके बाद से अपने सम्पूर्ण कवि-जीवन में पंत इस प्रकार की अवस्था को फिर से न पा सके।

विविध चरण—प्रकृति-प्रेम की यह अवस्था एक सी नहीं चली है। 'वीणा' से 'पल्लव' तक की कविता-यात्रा में प्रकृति का यह प्रेम अधिक तीव्र रहा है। इस अवस्था में उन्होंने जो कुछ भी लिखा, उसमें अनुभूति का मिश्रण सबसे अधिक था। इस पर भी इस थोड़े से काल के भीतर ही उनकी इस अनुभूति ने कई करवटें लीं। 'वीणा' में वह शुद्ध रूप से प्रकृति के सौन्दर्य की ओर खिंचे रहे हैं। 'ग्रन्थि' में आकर वह नारी-प्रेम की ओर अधिक झुक गये हैं। पहले वह नारी के केशपाश में उलझने की अपेक्षा प्रकृति के सौन्दर्य में ही डूबे रहना चाहते थे। परन्तु, अब वह नारी के सौन्दर्य में इतना उलझ गये हैं कि उन्हें प्रकृति में भी अपनी

प्रेमिका का ही रूप दिखाई देने लगता है। यह आकर्षण उनके लिए अद्भुत रूप में प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। परन्तु, 'पल्लव' उनकी अगली अवस्था की परिचायिका रचना है। यहां आकर कवि प्रकृति और नारी के बीच सौन्दर्य में से, एकांगिता को भूलकर, केवल शुद्ध सौन्दर्य का उपासक बन जाता है। सौन्दर्य की यह भावना न तो प्रकृति के भौतिकरूप से सम्बद्ध है, और न ही नारी के भौतिकरूप से। परन्तु यह सब बात इस कृति की 'परिवर्त्तन' नाम की कविता से पहले की है।

'परिवर्त्तन' कविता लिखते हुए कवि विवेकानन्द के दर्शन से अत्यधिक प्रभावित रहा दीखता है। सच तो यह है कि इस कविता में जो दर्शन व्यक्त हुआ है उसे कवि की साक्षी पर भले ही विवेकानन्द से प्रभावित मान लिया जाए, पर वह विवेकानन्द के **विधेयात्मक-दर्शन** की अपेक्षा शंकराचार्य के **निषेधात्मक** दर्शन से अधिक प्रभावित है। इस विषय में न जाने आलोचकों ने कैसे विवेकानन्द के प्रभाव को अंधाधुंध रूप में स्वीकार कर लिया है। वेदान्त निश्चित रूप से संसार को झूठा मानकर नहीं चलता। वह तो एक प्रकार का जीवन-दर्शन है, जिसकी व्याख्या अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से की है। उन सब आचार्यों में स्वामी विवेकानन्द का स्थान सबसे अलग ठहरता है। आज के युग में उस दर्शन का सही प्रतिनिधित्व डा० राधाकृष्णन् करते हैं। 'गीता' के कर्म-योग की सच्ची व्याख्या इसी दर्शन के अन्तर्गत हो जाती है। इसे किसी भी रूप में पलायनवादी दर्शन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। शुद्ध रूपेण यह दर्शन जीवन के **कर्म मार्ग का दर्शन** है। अन्तर इतना ही है कि इसमें, संसार को असार न मानकर भी, उसमें अनासक्ति की बात कही जाती है। साथ ही ईश्वर को सर्वोपरि और सर्वव्यापक मानकर—सब आत्माओं का निवास उसमें मानकर—दुनिया में सच्चे साम्यवाद की स्थापना की पुकार की जाती है। कवि की 'परिवर्त्तन' कविता इस सबसे भिन्न आधार का एक दर्शन प्रस्तुत करती है।

इस प्रकार 'परिवर्त्तन' कविता से पूर्व तक की अवस्था को केवल

प्रकृति-प्रेम की अवस्था नहीं कहा जा सकता। उसके **तीन चरण** कतई स्पष्ट हैं। **प्रथम चरण** को हम प्रकृति-प्रेम का चरण कह सकते हैं। **द्वितीय चरण** नारी के प्रति प्रेम का है। **तृतीय चरण** प्रेम और सौन्दर्य के प्रति कवि के शुद्ध आकर्षण का चरण है। यहां आकर कवि प्रकृति और नर-नारी के भेद को भूल गया है। उसे प्रकृति में मानव-सौन्दर्य के और मानवीय सौन्दर्य में प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं।

द्वितीय सोपान—'परिवर्त्तन' कविता की चर्चा में कवि के दार्शनिक चिंतन की प्रथम दशा को स्पष्ट किया जा चुका है। कवि ने उस कविता को 'पल्लव' में ही रखने का जो आग्रह किया, वह इस कारण कि उसमें भौतिक आकर्षण के मूल आधार की असत्यता का उद्‌घोष हो गया था और साथ ही उससे कवि के प्रकृति अथवा मानव के बाह्य सौन्दर्य के प्रति आकर्षण के अन्त की भी सूचना मिल गई थी। परन्तु, इस पर भी हमने इसे कवि जीवन की **द्वितीय अवस्था** में ही रखा है। इस अवस्था की उनकी प्रमुख रचनाएं दो हैं : 'ज्योत्स्ना' और 'गुंजन'। इनके अतिरिक्त 'युगान्त' नामक रचना में भी कुछ कृतियां इसी धारा की हैं।

यह बात समझनी अधिक आवश्यक है कि इस **दार्शनिक चिंतन** की स्थिति में कवि, विवेकानन्द के दार्शनिक अध्ययन से आगे बढ़ कर, अन्य भारतीय दर्शनों के अध्ययन में भी प्रवृत्त हुआ है। वह एक ऐसी स्थिति में पहुंच गया है, जहां उसे सब दर्शनों का मूल-सार 'सर्वात्मवाद' के रूप में समझ में आ गया है। इसी सर्वात्मवादी भावना को वह इन काव्यों में प्रगट करता है। 'गुंजन' की प्रत्येक कविता इस नई भावना के ही विभिन्न पहलुओं को लेकर बढ़ी है।

इसके अतिरिक्त 'ज्योत्स्ना' में भी कवि ने इसी भावना को स्पष्ट किया है। 'एक तारा' नामक कविता में कवि इस बात को अधिक स्पष्ट करता है कि अन्ततः जीवन एक और अखण्ड है, उसके विनाश और बंटवारे का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यक्ति-भेद या जन्म-भेद उसे अलग-अलग और विभक्त सिद्ध नहीं कर सकते। **'जीवन-धारा अविरल प्रवाह'**

कहते हुए कवि इसी संकेत पर पहुंचा है । 'गुंजन' कवि की इस अवस्था का प्रतिनिधि काव्य है । संगीत और मादकता की दृष्टि से यह काव्य अनूठा है । यहाँ कवि वेदना के प्रति भी अपनी अनुभूति को पा लेता है ।

विविध चरण—'परिवर्त्तन' कविता से लेकर 'युगान्त' के मध्य तक कवि ने जिन अवस्थाओं को पार किया है, उन्हें हम तीन भागों में बाँट सकते हैं । **पहले चरण** में वह वेदान्ती दृष्टिकोण को अपनाता है । **दूसरे चरण** में वह साधना में रत होने के लिए अपने मन को प्रेरित करता है। तब, **तीसरे चरण** की बारी आती है । यहाँ वह आत्मा के सौन्दर्य और उसकी नित्यता और एकता को पूरी तरह अनुभव कर लेता है । ये तीन अवस्थाएं उसके इस द्वितीय सोपान की ही हैं । इस सोपान को हम **'दार्शनिक दृष्टि का सोपान'** भी कह सकते हैं ।

तृतीय सोपान—कवि आत्मा की गहराई में जितना ही उतरा, उतना ही वह मनुष्य के बहिरंग को भूलता गया । प्रकृति प्रेम की अवस्था में वह मानव से जब भी आकृष्ट हुआ था, उसने केवल उसके बाह्य सौन्दर्य को ही देखा था । अब वह केवल उसके आन्तरिक सौन्दर्य में ही उलझकर रह गया । यदि उसने इस समय मानव के बाह्य-परिवेश को भी भली प्रकार देख लिया होता, तो कदाचित् ऐसा वैषम्य न आ पाता । किन्तु बाह्य-परिवेश की उपेक्षा का परिणाम यह हुआ कि उसके द्वारा मानव के अन्तर्मन का अध्ययन तो हुआ, पर वह अधूरा ही रहा । उसमें भौतिक वास्तविकताओं की पूरी-पूरी उपेक्षा रही । मनुष्य के अन्तर्मन पर विचार करना तब तक व्यर्थ था, जब तक उसकी भौतिक परिस्थितियां इस लायक न हों कि वह अपने जीवन को संतुष्ट अनुभव कर सके । साधना के जीवन पर बढ़ने से पहले, मन की ऐसी संतुष्टि बहुत आवश्यक हो जाती है ।

अध्यात्म से विमुखता—कवि की इस उपेक्षा का ही परिणाम था कि आत्मा और मन की साधना के अध्ययन के बाद जब उसने भौतिक-

वादी दर्शन और भौतिक विषमताओं से भरे चारों ओर के वातावरण से परिचय पाया, तब उसका मन अचानक ही उस ओर मुड़ पड़ा। आरम्भ में उसने यह अनुभव किया कि जैसे वह अब तक एक त्रुटि करता आया हो। इसीलिए वह पूरे वेग के साथ नये गीत गाने लगा, और अपने पुराने स्वर की स्वयं निन्दा करने लगा। पर, बाद में उसने अपनी गद्य विवेचनाओं में इसकी एक संगति खोज निकाली। उसने कहा कि वह विज्ञान और अध्यात्म को एक दूसरे का पूरक मानता है। उसने यह अनुभव किया कि **अध्यात्म मानव की जिस समानता को आत्मा के स्तर पर घोषित करता है, विज्ञान उसे ही मानव के बाह्य परिवेश में सिद्ध करता है।** यह बात देखने में अत्यधिक आकर्षक लगती है। पर, कवि ने जिस ढंग से अपनी भावनाएं 'युगान्त', 'युगवाणी', और 'ग्राम्या' में व्यक्त की हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि उस समय वह अध्यात्म के प्रति अपनी आस्था बिलकुल खो बैठा था।

शैली का अन्तर—पहले युग को आलोचकों ने **छायावादी काल** कहना चाहा है, जिसमें पहले दोनों सोपान अन्तर्गृहीत हो जाते हैं। यह नया सोपान **प्रगतिवादी काल** के नाम से कहलाता है। यहाँ आकर कवि की शैली में भी अन्तर आ गया है। इतना निश्चित है कि पंत की भाषा अन्य प्रगतिवादी कवियों की भाँति शिथिल और जन-साधारण की बोलचाल की भाषा नहीं बन पाई है। इसके विपरीत वह एकदम ही कठोर सी हो उठी है। संस्कृत की कठिन शब्दावली का प्रयोग भी इस अवस्था में हुआ है। विशेषकर 'युगवाणी' में भाषा की यह क्लिष्टता बहुत अधिक रही है। 'ग्राम्या' में भाषा कुछ अधिक सरल और जन-अनुकूल रही है।

भावना और तटस्थता—यहाँ कवि ने भावनाएं भी सामान्य ही ली हैं। 'युगवाणी' सिद्धांत-ग्रंथ के रूप में अधिक रहा है, और 'ग्राम्या' में प्रगतिवाद का भावना-पक्ष अधिक उभर कर सामने आया है। पर, इस पर भी कवि सर्वत्र दार्शनिक की भाँति तटस्थ अधिक रहा है, जीवन के आलोचक की

भाँति सक्रिय नहीं। उसने जो कुछ भी लिखा है, वह अपनी क्रियात्मक अनुभूति के बल पर नहीं लिखा, बल्कि उसे लिखते हुए वह एक चित्रकार बनकर ही बैठा है। इसीलिए उसके इस काव्य में वह गहराई नहीं मिलती, जो अन्य किसी भी प्रगतिवादी कवि के काव्य को अधिक करुण बना देती है। एक विशेषता फिर भी उसकी यह रही है कि उसने अन्य प्रगतिवादियों की भाँति नारे-बाजी का साहित्य नहीं लिखा है। इसीलिए उसके साहित्य में प्रचार की भावना के दर्शन नहीं होते। कवि ने **'युगवाणी'** में युग के जिन मानों और बंधनों को तोड़ने की घोषणा की थी, **'ग्राम्या'** में आकर सचमुच वह उनसे मुक्त होने में सफल हो गया है। यह बात ध्यान रखने की है कि 'ग्राम्या' की भाषा और शैली स्वयं इतनी कोमल हो उठी है कि उसमें भावना का अछूतापन सामने नहीं रह जाता। कला की दृष्टि से इस कोमलता ने प्रगतिवाद को जैसे कुछ हानि पहुँचाई हो। प्रगतिवादी आलोचक, इसीलिए, उस समय पन्त के एका-एक विरोधी हो उठे थे। उन्होंने खुले रूप में पंत की इस भाषा शैली का विरोध करना आरम्भ कर दिया था।

त्रिविध चरण—इस प्रकार पन्त के कवि जीवन में यह **तीसरा सोपान** अनेक अन्तर्विरोधों को लिए हुए आया। इसको फिर तीन भागों में बाँटा जा सकता है। **पहले चरण** में 'युगान्त' की वह अवस्था आती है, जहाँ कवि मानव के अन्तर्मन की अपेक्षा उसके बाह्य जीवन को देखने के लिए अधिक व्याकुल हो उठता है। **दूसरे चरण** में वह, उसके बाह्य या आन्तरिक जीवन से सम्बन्ध न रखकर, 'युगवाणी' के सैद्धांतिक गीतों या अनुवादों में उलझ पड़ता है। **तीसरा चरण** वह है, जहाँ वह दलितों और शोषितों के प्रति अपनी सहानुभूति को उँडेलने लगता है। यहां आकर वह सभी उपेक्षित चीजों की तुलना मानव जीवन से करने लगता है, और मानवीय जीवन की विषमताओं का विरोध करने में भी प्रवृत्त होता है। इस तरह इस सोपान के भी **तीन ही चरण** ठहरते हैं।

चतुर्थ सोपान—सन् '४३ में कवि अचानक ही रुग्ण हो गया। इस

बीमारी ने उसमें अपने जीवन पर से ही विश्वास उठा दिया। घोर निराशा की अवस्था में उसे अरविन्द-दर्शन का साक्षात् हुआ। तब से उसका मन एक नई दृष्टि पाकर खिल उठा। उसमें एक नई आशा और नये विश्वास का उदय हुआ। अब उसे लगा कि यह समस्त भौतिक प्रगति तब तक बेमानी और व्यर्थ है, जब तक मानव रुहानी और आध्यात्मिक तौर पर अपनी प्रगति नहीं कर लेता। मानव-जीवन का उद्देश्य केवल धन और बाहरी सुख-सुविधा तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसका उद्देश्य है अपनी पूर्णता को पा लेना। यह पूर्णता अकेले मानव से एकाकीपन में ही निष्पन्न नहीं हो सकती। इसके लिए उसके हृदय में सर्वात्मवादी-भावना की अनुभूति का जागरण अधिक आवश्यक हो जाता है। यह अनुभूति भी तक तब तक नहीं हो सकती, जब तक वह व्यष्टि और समष्टि के भेद को नहीं भूल जाता। ज्योंही वह इस भेद को भूलता है, तुरन्त ही उसमें एक नई अनुभूति जग जाती है। वह अपने और विश्व के भेद को भूलकर एक ही आत्मा की सर्वत्र अनुभूति को पाना आरम्भ कर देता है। अन्तर यही है कि 'गुंजन' में कवि ने इस सत्य का दर्शन-मात्र किया था; उसे सही रूप में अनुभव नहीं किया था। अरविन्द ने उसे ही सही रूप में जीवन का क्रियात्मक चरण घोषित किया, और मानव की समानता को सही अर्थों में सम्पन्न होने वाला एक सत्य घोषित किया। सत्य बात यह थी कि पहली बार अरविन्द ने 'गीता' के इस सिद्धान्त को फिर से दोहराया कि मानव स्वयं ही ऊपर उठता हुआ देवत्व की कोटि तक पहुँच सकता है।

उस अवस्था को पाने लिए ही यह सर्वात्मवाद अधिक आवश्यक हो उठता है। यहां कवि ने अरविन्द के इस सत्य को भी स्वीकार किया है कि विश्व का सामूहिक जीवन भी एक उच्चतम आदर्श तक उठाया जा सकता है। यह स्तर भी समान हो सकता है। इस दर्शन में मानव के 'सु' और 'कु' के जन्म-जात भेद को स्वीकार नहीं किया जाता। यहां यह मानकर बढ़ा जाता है कि जन्मना भी सब एक हैं, और उन्नति

भी सब एक साथ और एक समान कर सकते हैं। पर इसके लिए सर्वत्र साधना की आवश्यकता है। साथ ही, इसी जीवन को लाने में अतिभौतिक शक्तियों की सामर्थ्य और सहायता भी अपेक्षित होती है।

लम्बी यात्रा—कवि ने इस सत्य को बहुत देर तक अपनाये रक्खा और उसने इसे अनेक काव्यों में प्रगट किया। ऐसे काव्यों की संख्या उसकी कुल शेष रचना-संख्या के मुकाबले में अधिक जा ठहरती है। 'स्वर्णधूलि' से 'अतिमा' तक की यह यात्रा कुछ चरणों में बांटी जा सकती है। परन्तु, अन्ततः इस सब में एकता का एकमात्र सूत्र **अरविन्द दर्शन** ही है। सर्वत्र आत्मा की दिव्यता और जीवन के उत्कर्ष की चर्चा हमें मिलती है। इस सोपान में 'स्वर्णधूलि', 'स्वर्णकिरण', 'उत्तरा', 'युगान्तर', 'अतिमा', और 'वाणी' का ग्रहण किया जा सकता है।

अन्तिम मोड़—इन सब सोपानों की अपेक्षा एक नवीन चरण कवि का 'कला और बूढ़ा चांद' में प्रगट हुआ हैं। यहाँ आकर कवि ने कुछ नये प्रयोग किए हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पहली बार अपनी अनुभूति-पूर्ण निगाहों से उसने देश के नव-निर्माण और जनता के विविध वर्गों की ओर नजर डाली है। यहां उसने अधिक क्रियात्मक रूप अपनाया दीखता है। पर, सत्य यह है कि वह यहां पर भी स्वयं को जनता से एकाकार अनुभव नहीं कर सका है। वह यहां भी एक दार्शनिक ही बन कर आया है। उसकी तटस्थता यहां भी कायम रही है। कला के नये प्रयोग होने पर भी वह जनता का कवि नहीं कहला सकता।

यही बात उसके अबतक के **अन्तिम मोड़** 'लोकायतन' के बारे में भी कही जा सकती है। लोक जीवन के इस महाकाय महाकाव्य में भी वह जन-अनुभूति के स्तर पर पूरी तरह नहीं उतरा है। यहाँ भी उसका तटस्थ रूप अधिक सजग है।

ये ही हैं पन्त के काव्य-विकास के विविध सोपान और चरण।

४

काव्य-परिचय

'पंत' का अध्ययन—श्रीसुमित्रानंदन पंत के जीवन और उनके काव्य को लेकर अब तक बहुत कुछ लिखा गया है। उनके संबन्ध में अध्ययन का यह क्रम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अपने इतिहास-ग्रंथ में उनके उल्लेख से आरम्भ हुआ था। 'पंत' को लेकर तब से एक बहुत बड़े साहित्य की रचना अब तक हो चुकी है। स्वयं 'पंत' ने जितना लिखा है, यह विशाल साहित्य उससे कई गुना अधिक है। डा० नगेन्द्र ने अपने विस्तृत अध्ययन के द्वारा प्रथम बार कुछ विस्तार में पंत के काव्य की परीक्षा की थी। उसके बाद से प्रायः अनेकों आलोचक उन्हीं बातों को दोहराते आये हैं। कुछ ने कुछ नई बातें भी लिखी हैं। यहां उन सबके उल्लेख का अवकाश नहीं है।

युग प्रतिनिधि—पर, फिर भी एक बात कहनी आवश्यक दीखती है। अभी हाल के एक प्रकाशन में पंत को **युग-कवि** कहा गया है। 'भूमिका' लिखते हुए एक विद्वान् ने पंत को **हिन्दी-काव्य की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि कवि स्वीकार किया** है। यह बात कहने में सरल हो सकती है। पर विचार के समय इसे सिद्ध कर पाना अधिक कठिन होगा। लिखते समय जिस किसी भी कवि को, प्रशंसा के स्वर में, युग-कवि या प्रतिनिधि कवि कह देना सरल है। परन्तु, युग-कवि और प्रति-निधि-कवि के जो लक्षण होते हैं, उनके अनुसार विचार करने पर 'पंत' को इन दोनों की कोटियों में नहीं रखा जा सकता। इन दोनों शब्दों का प्रयोग न करने से पंत का महत्त्व घट नहीं जाता।

युग-व्यतिरिक्त—वे युगों के अनुरूप चलकर भी युगों की सीमा से

कुछ ऊपर उठ गये हैं। उनके काव्य में युगों की सीमाओं का संकोच समाप्त हो गया है। कला और काव्य के क्षेत्र में जो नये प्रयोग और नई भावनाएं उन्होंने आरम्भ से अपनी विशेषता के रूप में प्रकट करनी शुरू की थीं, आज भी वे उसी रूप में चल रही हैं; यद्यपि आकार और प्रकार में वे सर्वथा भिन्न हो चुकी हैं। आज का 'पंत' कल तक के 'पंत' से भावना में भिन्न होकर भी अपनी मूलगत नवीनता के प्रति आग्रह की विशेषता के कारण चिर-पुराण और चिर-नवीन बना हुआ काव्य साधना में रत है।

व्यापक भूमिका—अन्य किसी भी कवि की अपेक्षा 'पंत' का काव्य एक व्यापक भूमिका पर अवश्य फैला हुआ है। उन्होंने साहित्य में प्रचलित वादों और धारणाओं के आधार पर समय-समय पर बहुत कुछ लिखा है। वे स्वयं सम-सामयिक आन्दोलनों से प्रभावित होते रहे हैं। पर इस पर भी उन्होंने युग के आन्दोलनों से मुक्ति अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में ही पाई है। सन '४५ के बाद का उनका काव्य अपनी ही निश्चित की हुई एक विशेष दिशा में बढ़ने वाला काव्य कहा जा सकता है। इस विशेष दिशा में बढ़ते हुए उन्होंने अन्य धाराओं की अपेक्षा कुछ अधिक स्थिरता प्राप्त की है। अभी पिछले पांच-छह वर्षों से उन्होंने एक नया स्वर भी अपना लिया है। **यह स्वर नव-निर्माण, मानवतावाद और प्रयोगवाद का मिला-जुला स्वर है।** लगता है यहां आकर कवि युग की सीमाओं से कुछ ऊपर उठ गया है। परन्तु, इस सब से उसे फिर भी युग-प्रतिनिधि कहना अनुचित ही लगता है। आखिर 'छायावाद' अपने युग का चित्रण हमारे सामने प्रस्तुत नहीं करता। 'प्रगतिवाद' जो चित्र अपने युग का हमारे सामने रखता है, पंत का काव्य उस चित्र की पुष्टि नहीं करता। वे अपने काव्य में इतने अधिक बौद्धिक हो उठे हैं कि सामान्य प्रगतिवादी कवि भी उस पथ पर बढ़ने से और उस काव्य को अपना कहने से घबराने लगता है।

रचना-क्रम—यहां हम कवि के काव्य की विभिन्न अवस्थाओं का

वर्णन करना उचित नहीं समझते। 'काव्य-विकास' नामक अध्याय में हम उसकी चर्चा पृथक् से कर आए हैं, पर फिर भी उसकी समस्त कृतियों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। यहां हम काव्य-कृतियों का क्रमशः उल्लेख करेंगे। उनकी कुल कृतियां यहां गृहीत न की जा सकेंगी, क्योंकि उनमें से अनेक गीतिनाट्य, कहानी, गद्य, अथवा नाटक सम्बन्ध से रखती हैं। फिर भी, काव्य-कृतियों की संख्या ही कम नहीं है। इनमें से मूल रचनाएं सोलह के लगभग ठहरती हैं। काल-क्रम के अनुसार इनकी मौलिक रचनाएं इस प्रकार गिनी जा सकती हैं :

१. वीणा (१९१८), २. ग्रंथि (१९२०), ३. पल्लव (१९२२-२६), ४. गुंजन (१९२६-३२, ५. युगांत(१९३४-३६), ६. युगवाणी (१८३७-३९), ७. ग्राम्या (१०३९-४०), ८. स्वर्ण-किरण (१९४७), ९. स्वर्ण-धूलि (१९४८), १०. मधुज्वाल (१९४८), ११. युगपथ (१९४९), १२. उत्तरा (१९४९), १३. अतिमा (१९५५), १४. वाणी (१९५७), १५. कला और बूढ़ा चांद (१९५९), १६. लोकायतन (१९६४)।

पंत की कुछ फुटकर रचनाएं जब-तब सामने आती रही हैं। इनके अतिरिक्त 'ज्योत्स्ना नाटिका', 'पांच कहानियां' तथा 'रजत शिखर', 'शिल्पी' एवं 'सौवर्ण' आदि गीतिनाट्य भी उन्होंने लिखे हैं। 'गद्य-पथ' नामक विवेचना ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ है, जिसमें कवि द्वारा लिखी हुई भूमिकाओं आदि का संकलन किया गया है। यहां हम मुख्य काव्य-रचनाओं का ही संक्षिप्त परिचय देंगे।

१. **वीणा**—कवि की यह कृति उसकी किशोर अवस्था में ही सामने आगई थी। उसके किशोर मन ने प्रकृति के चारों ओर के वातावरण से, और उसकी गोद में लेटे-लेटे पढ़े जाने वाले शैली और टेनीसन के साहित्य से, जो प्रेरणा ग्रहण की, उसका कोमल और सुन्दर रूप भी इसमें सामने आया। यहां कवि प्रकृति के बाह्य रूप से इतना अधिक प्रभावित रहा है कि उसने प्रकृति-रमणी के रहते साधारण रमणी की

ओर ताकना भी अस्वीकार कर दिया। उसकी दृष्टि में प्रकृति का मोह बहुत अधिक और भारी था। तभी वह कह उठा :

छोड़ द्रुमों की मृदुछाया, तोड़ प्रकृति से भी नाता,
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?

ये पंक्तियां उसके इसी मोह को सूचित करती हैं। उसने प्रकृति को सजीव बालिका के रूप में नाचते और खेलते देखा। उसकी सम्पूर्ण कोमल भावनाओं का प्रतिनिधित्व मानो उसमें ही हो उठा हो।

उस फैली हरियाली में, कौन अकेली खेल रही मां,
वह अपनी वय बाली में, सजा हृदय की थाली में,
क्रीड़ा कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास, विलास।

स्पष्ट है कि कवि प्रकृति के सौन्दर्य और यौवन से ही प्रभावित नहीं रहा, बल्कि वह उसमें अपनी संगिनी को भी खोजने में समर्थ हो गया है। उसकी आत्मा जब आह्लाद में फूट पड़ी, तब उसने स्वयं से ही प्रश्न किया :

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना ?
कहां, कहां, हे बाल विहंगिनि, पाया तूने यह गाना ?

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि कवि की कल्पना और कला दोनों ही नये और उत्सुक हृदय की देन रही हैं। प्रौढ़ता का नाम भी उसमें देखने को नहीं मिलता।

२. ग्रंथि—पंत की इस रचना को लेकर आलोचकों ने बहुत कुछ कहा है। कुछ ने इसमें उनके हृदय का प्रणय-सूत्र को खोज निकाला है, तो कुछ ने इसे उनके हृदय की ग्रंथि कहना उचित समझा है। कुछ भी हो, कला और कल्पना की दृष्टि से यह काव्य कुछ अधिक महत्त्व का ही ठहरता है। डा० श्रीकृष्णलाल इसे प्रेमाख्यान काव्य मानते हैं। कुछ और ने इस मत से स्वयं को अलग रखा है। निश्चय ही इसमें कथा भी है और प्रेम भी। इनके साथ ही इसमें सर्वात्मवादी छायावादी भावना भी विद्यमान है। इस सबके कारण इसे प्रेमाख्यान कहा जाए तो बात

अलग है ; पर सूफियों के प्रेमाख्यान काव्यों के समकक्ष इसे मान बैठना उचित नहीं हैं।

इस काव्य में कवि ने अतुकांत छंद में एक प्रणय-कथा वर्णित की है। यहां वह प्रकृति की अपेक्षा नारी के प्रेम से अत्यधिक प्रभावित रहा है। यह प्रेम भी उसके लिए अत्यन्त मादक सिद्ध हुआ। परिणाम यह कि वह प्रकृति के व्यापक सौन्दर्य को भूलकर उस प्रेमिका के छविजाल में उलझ कर रह गया। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि उसने प्रकृति के कण-कण में अपनी प्रेमिका के रूप को ही खोजना आरम्भ कर दिया। अब वह धरती, आकाश और समुद्र—सब जगह एक ही सौन्दर्य को व्याप्त देखने लगा। यह भावना छायावाद के सर्वात्मपरक आधार को प्रस्तुत कर देती है। प्रसाद के 'आंसू' काव्य में भी इसी प्रकार का सर्वात्मपरक आधार हमें मिल जाता है। महादेवी के आरम्भिक प्रणय निवेदन के बीच से भी इस प्रकार का सर्वात्म-परक आधार सामने आ जाता है।

कला की दृष्टि से भी यह काव्य पहले काव्य की अपेक्षा कुछ अधिक प्रौढ़ है। कुछ मुहावरों और कुछ आंग्ल-अभिव्यक्तियों का अनुवाद भी कवि ने किया है :

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की, जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा वारि पीकर पूछता है घर सदा !

३. **पल्लव**—कवि के काव्य-विकास में 'पल्लव' का अत्यधिक महत्व है। इसे दो भागों में बांटकर विचार करना अधिक उचित होगा। 'परिवर्तन' कविता से पहले तक के सारे काव्य को अलग करके देखना ही ठीक है। इस भाग की कविताओं में कवि की प्रेम और सौन्दर्य-परक भावनाओं का प्रौढ़ रूप सामने आ जाता है। यहाँ कवि को प्रकृति और मानव के बीच कोई भी अन्तर नहीं दिखाई देता। वह एक के सौन्दर्य को दूसरे में खोजने लगता है :

तड़ित् सा सुमुखि, तुम्हारा ध्यान, प्रभा के पलक मार उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर, मुझे करता है अधिक अधीर,
जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण, खोजते हैं तब तुम्हें निदान।

परन्तु, 'परिवर्त्तन' कविता में वह समस्त बाह्य सौन्दर्य को निस्सार समझ बैठता है। वह प्रकृति और मानव सभी को विनाशशील मानता है। वेदान्त के प्रभाव में आकर वह कह उठता है—

एक सौ वर्ष नगर उपवन, एक सौ वर्ष विजन वन।
यही तो है असार संसार, सृजन, सिंचन, संहार।

इस प्रकार उसका यह काव्य प्रथम बार हमें एक दार्शनिक आधार देता है। वह बहिरंग जीवन से मुड़कर अन्तर्मुख हो उठता है। पर सच यह है कि इस प्रकार के दर्शन को उसकी अन्तर्मुखता का सही प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। 'परिवर्त्तन' की यह दशा बहुत कम समय तक स्थिर रह पाई। इस 'पल्लव' को अनेक आलोचकों ने कला की दृष्टि से पंत के काव्य-वैभव का प्रतीक माना है, परन्तु निराला इसे केवल शाब्दिक जोड़-तोड़ का ही काव्य मानते हैं।

४. **गुंजन**—पंत के कवि जीवन में उसकी आध्यात्मिकता और दार्शनिकता का मिला-जुला प्रतीक यह अकेला काव्य-ग्रंथ ही है। 'ज्योत्स्ना' नाटिका में कवि ने जिन भावों को व्यक्त किया था, उन्हें ही उसने कविता में बांध कर 'गुंजन' में प्रगट किया है। 'परिवर्त्तन' में कवि वेदान्त के एक संकुचित रूप पर बढ़ गया था, परन्तु यहां वह अधिक व्यापक आधार पर भारतीय दर्शनों के अपने अध्ययन का प्रभाव प्रस्तुत करता है। इसकी सम्पूर्ण कविताओं को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। पहले खंड में साधना और सुख-दुख की समानता की बात है। **'मैं नहीं चाहता अति सुख, मैं नहीं चाहता अति दुख'** तथा **'तप रे मधुर-मधुर मन'** में यह 'साधना' ही प्रगट हुई है। कवि अपने चारों ओर या तो दुःख के विस्तृत जाल को देखता है या फिर उसे सुख ही सुख फैला हुआ दिखाई देता है। वह अपना सम्बन्ध जगत् के दुःख से करना अवश्य चाहता है; पर

किसी दार्शनिक की ही भांति :

विश्व वेदना में तप प्रतिपल, जग जीवन की ज्वाला में गल।

यह सब बात साधना के अन्तर्गत ही आ जाती है। इस साधना से ही वह जगत् का नव-निर्माण चाहता है।

परन्तु, कवि की वास्तविक दृष्टि इसकी 'एक तारा' और 'नौका-विहार' कविताओं में व्यक्त हुई है। यहां वह एक ही आत्मा के प्रकाश को सर्वत्र फैलता हुआ देखता है। **'अमन्द नक्षत्र एक'** और **'जीवन धारा अविरल प्रवाह'**—में कवि इन्हीं बातों को स्पष्ट करता है। उसकी दृष्टि में आत्मा और जीवन एक हैं। जिस प्रकार सांध्य तारा अपने ही प्रकाश की अनुभूति पाकर, चारों ओर के प्रकाश को एक प्रतिबिम्ब के रूप में देखकर, खिल उठता है। उसी प्रकार वह नदी के प्रवाह को देख कर जीवन के अमर और नित्य प्रवाह की भावना से भर जाता है।

कला की दृष्टि से भी 'गुंजन' का अपना महत्व है। वातावरण-निर्माण में कवि का कौशल यहां देखने को मिलता है। कवि का लक्ष्य यहाँ प्रकृति का चित्रण नहीं रहा है, फिर भी उसने वातावरण-निर्माण के बहाने प्रकृति के जो चित्र यहां प्रस्तुत किए हैं, वे स्वयं में अभूतपूर्व सौन्दर्य को अपने अन्दर छिपाए हुए प्रगट हुए हैं।

५. **युगान्त**—इस कृति का काव्यात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं है। फिर भी कवि के काव्य-विकास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार 'पल्लव' कवि के दो काव्य-युगों के मोड़ पर आता है, उसी प्रकार यह भी कवि के अगले दो युगों के मोड़ को सूचित करता है। यहां वह दार्शनिक दृष्टि को समाप्त कर प्रगतिवादी भावनाओं की ओर मुड़ता है। वह संसार का नव-निर्माण चाहता है, किन्तु साथ ही पुरानी संस्कृति को निराधार और व्यर्थ की वस्तु स्वीकार करता है। वह उसे वर्तमान युग के लिए अत्यन्त कमजोर और असमर्थ पाता है। **'द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र'** के द्वारा वह इस संस्कृति को ही अनुपयोगी कहना चाहता है। **'मानव'** कविता में वह रवीन्द्र और गांधी के मानवतावाद से भी प्रभा-

वित दिखाई देता है। यहां तक भी वह कुछ न कुछ अध्यात्म से प्रभावित रहा ही है, पर 'मानव तुम सबसे सुन्दरतम' कहते हुए वह तुरन्त ही अपनी बदली हुई भावनाओं का परिचय भी दे देता है। यही है एक युग का अन्त, जो अगले युग के आरम्भ की सूचना देता है। कुछ ने इसे छायावादी युग की समाप्ति की सूचना माना है।

६. युगवाणी—युगान्त में कवि का दृष्टिकोण पलटने पर भी प्रकृति और काव्य-सौन्दर्य के प्रति वह अनुदार नहीं हुआ था। परन्तु, इस काव्य मे वह छंद-बंध को तोड़कर नये क्षेत्र में बढ़ना चाहता है :

> खुल गए छंद के बंध, प्रास के रजत पाश
> अब गीत मुक्त, औ युगवाणी बहती अयास।
> बन गए कलात्मक भाव, जगत के रूप, नाम,
> जीवन संघर्षण देता सुख, लगता ललाम।

इस काव्य में कवि ने सच्चे प्रगतिवादी की भाँति सबप्रकार के बंधनों को तोड़ कर समाजवादी दृष्टि से आगे बढ़ना चाहा है। उसने अन्य अनेक विषयों के साथ साम्यवाद और समाजवाद के अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या भी की है। अनेक बार यह स्पष्ट लगने लगता है कि वह समाजवादी सिद्धान्तों को समझाने में लग गया है। कृषक, मध्यवर्ग, धनपति, साम्राज्यवाद, आदि अनेकों कविताओं में वह नये धर्मान्तरित के-से जोश से पूरी व्याख्या करने लगता है। समाजवाद उसके लिए आस्था का विषय बन गया है। यहां यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि कवि को अपने पुराने काव्य पर और पुरानी अनुभूति पर शोक होने लगता है, और वह जैसे अपनी पुरानी कृतियों का उत्तर देने के लिए बढ़ चलता है। 'गंगा की सांझ' इस बात का सबसे अच्छा उदाहरण है। 'गुंजन' की 'नौका विहार' कविता का मानों यहां उत्तर दिया गया है। यहां वह 'जीवन-धारा अविरल प्रवाह' के स्थान पर 'नर-नारी जीवन-धारा' कह कर अपने बदले हुए दृष्टिकोण की सूचना देता है। अपने पुराने काव्य का

उपसंहार करते हुए वह प्रकृति को सम्बोधित करते हुए कह उठता है :

हार गईं तुम, प्रकृति ! रच निरुपम मानव-कृति ।

इस प्रकार प्रकृति का चरम उद्देश्य भी मानव की रचना को ही ठहराकर वह मानो अब तक के अपने प्रकृति-दर्शन का उपहास उड़ाता है। अब वह 'ईश्वर' को अपने स्वर में बुलाने की अपेक्षा **'जीवन के कर्कश अपस्वर'** को बुलाना अधिक अच्छा समझता है। स्वयं 'ईश्वर' की परिभाषा भी उसने बदल दी है। यहां वह समाज के बंधनों से हर प्राणी को—नारी और शोषित तक को—मुक्त करना चाहता है।

कला की दृष्टि से यह रचना एक नया मोड़ सूचित करती है। पर तो भी एक सत्य छिपा नहीं रह सकता : वह यह कि कवि ने जो कुछ भी लिखा है उसमें उसकी शैली का निखार कितना ही आया हो, तो भी उसमें पुराने काव्य से एकरसता विद्यमान है ही। यहां कवि स्वयं उसी मुक्त छंद को अपनाने में प्रवृत्त हुआ है, जिसके लिए कभी उसने 'निराला' को कोसा था। अनुप्रास और अलंकार उससे यहां छूट नहीं पाए हैं। और इस दृष्टि से उसका यह काव्य एक मिले-जुले रूप को प्रस्तुत करता है। **भावना से वह प्रगतिवादी अवश्य बन गया है, पर कला में छायावादी ढांचा उससे छूट नहीं पाया है।**

७. **ग्राम्या**—कवि यहां कुछ अधिक क्रियात्मक रूप में प्रगतिवादी कहलाने योग्य हो गया है। इस कृति में उसने, केवल सिद्धान्तों की व्याख्या और उत्तर देने का कार्य छोड़कर, कुछ स्वतंत्र चित्र प्रस्तुत किए हैं। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने इन कविताओं को तीन भागों में बांटा है : **प्रथम भाग** में वे कविताएं हैं, जिनमें ग्रामीण भावनाओं और रीतिरिवाज़ों का सुन्दर चित्रण हुआ है; **दूसरे वर्ग** में वे कविताएं हैं जिनमें कवि की सहानुभूति ग्रामवासियों के साथ प्रकट तो हुई है, फिर भी उसमें वह कोरा बौद्धिक ही रह पाया है; **तीसरे भाग** में कुछ अन्य कविताएं हैं, जिनमें सम-सामयिक समस्याओं का चित्रण किया गया है। स्वयं 'ग्राम्या' कविता में कवि कहता है :

है मांस-पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता,
संयोग अवयवों में, अश्लथ उसके उरोज।

'सन् '४०' शीर्षक कविता में द्वितीय महायुद्ध का भयावह रूप भी दिखाया गया है, साथ ही समाज के निम्नवर्ग के साथ सहानुभूति भी दिखाई गई है। कवि कह उठता है—

मिलकर जन निर्माण करें जग, मिल कर भोग करें जीवन का,
जन विमुक्त हों जन-शोषण से, हो समाज अधिकारी धन का!

कला की दृष्टि से यह रचना कुछ अधिक कोमल हो गई है। इसीलिए प्रगतिवादी आलोचक इसकी कुछ रचनाओं को छायावादी कला से प्रभावित मानते हैं।

८. **स्वर्ण-किरण**—कवि की यह रचना उनकी बहुत लम्बी बीमारी के बाद सामने आई। कवि ने जीवन के प्रति जब आशा छोड़ दी थी, तभी उन्हें अरविन्द की 'दि लाइफ डिवाइन' पढ़ने को मिली। कवि लिखता है, 'उसके प्रथम खंड को पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे स्पष्ट स्वप्न-चिंतन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है। बाद में कवि ने श्री अरविन्द के दर्शन किए, और वह उनके निकट सम्पर्क में आया। यहां से आरम्भ होने वाली सभी कृतियां अरविन्द के प्रभाव से किसी न किसी रूप में प्रभावित हैं। यहाँ कवि इस बात को स्पष्टतः समझ चुका है कि भौतिकवाद हर बात का उत्तर नहीं दे सकता, और न ही समाजवाद सारी सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का समाधान कर सकता है। समाज के उद्धार से पहले व्यक्ति के अपने मन का उद्धार होना आवश्यक है। और, जब मन-मन का यह आधार ही सारे विश्व पर लागू हो जाता है, तब सम्पूर्ण विश्व के साथ ही मानव का अपना उत्थान भी हो जाता है।

सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन
वृहत् विश्व इतिहास, चेतना जीता किन्तु निरंतर।

बाद में वह वह अपनी त्रुटि को भी समाज की त्रुटि मानता हुआ

अपनी पुरानी कृतियों का स्पष्टीकरण देता है :

निज जीवन का कटु संघर्षण, भूल गया यह मानव अन्तर ।

९. **स्वर्ण-धूलि**—अपने नये काव्य की भूमिका को 'स्वर्णकिरण' में प्रस्तुत करने के बाद कवि इस नई रचना में फिर से विस्तृत रूप में अरविन्द-दर्शन को स्पष्ट करने लगता है। इस भूमिका पर यह स्वाभाविक ही था कि यह रचना अधिक बौद्धिक हो उठती । सारे काव्य में कुछ ही ऐसी कविताएं हैं, जिन्हें हम सामान्य-जीवन से गृहीत मान सकते हैं। परन्तु अन्य कविताओं में कवि ने अरविन्द के दर्शन को ही अधिक प्रगट किया है। इन कविताओं को मुख्यतः तीन वर्गों में बांट सकते हैं। एक वर्ग है उन दार्शनिक कविताओं का, जिनमें दर्शन का सिद्धान्तपक्ष अधिक स्पष्ट हुआ है। दूसरी कविताएं विश्व की सामान्य वस्तुओं को लेकर लिखी गई हैं। इनके शीर्षकों से इन रचनाओं के प्रयोगवादी होने का भ्रम हो सकता है, परन्तु इनके अध्ययन से पता चलता है कि ये रचनाएं अरविन्द दर्शन की व्यावहारिक व्याख्या हैं। तीसरा खंड 'मानसी' नामक गीतिनाट्य है। इसमें पुरुष और नारी के माध्यम से मानव की आत्मा और उससे बढ़कर विश्वात्मा का भी प्रतिनिधित्व किया गया है। यह रचना स्वयं में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ।

कला की दृष्टि से यहां कवि अनुदार नहीं रहा है। केवल वे ही कविताए कुछ अधिक कठिन रही हैं, जहां वह दर्शन की गहराइयों में अधिक उतर गया है। ऐसे ही स्थलों पर उसने भाषा भी कुछ अधिक कठोर बरती है। एक बात जो स्पष्ट है वह यह कि कवि अब अलंकारों के पीछे नहीं दौड़ता, वे स्वयं ही उसकी भाषा के अंग बनकर अनायास प्रयुक्त होते रहते हैं।

१०. **उत्तरा**—यह रचना भी कवि के अरविन्द-दर्शन से प्रभावित विचारों की ही प्रतीक है। 'उत्तरा' की भूमिका में कवि ने अरविन्द को इस युग की सबसे बड़ी विभूति माना है। उसने उनके जीवन-दर्शन के प्रति पूर्ण आस्था प्रकट की है। वह उनके दर्शन को और उनके व्यक्तित्व

को संसार के लिए वरदान स्वीकार करता है। 'उत्तरा' के काव्य को अनेक वर्गों में बांटा गया है। प्रथम वर्ग चिंतन-प्रधान गीतों का है। द्वितीय वर्ग प्रार्थना-परक गीतों का है। तृतीय वर्ग में वे गीत आते हैं, जिनमें जन-जीवन को आह्वान किया गया है। यहां पर जीवन के उच्चतम रूप को धरती पर उतरने के लिए आमंत्रित किया गया है। प्रार्थना-परक गीतों में इनसे यह अन्तर है कि वहां कवि अपनी ही शक्ति को फैलाने की प्रार्थना करता है, और यहां वह एक अति-भौतिक देन को अपने जीवन के लिए वरदान रूप में मानता है। अगले गीत प्रतीकात्मक कोटि के अन्तर्गत आते हैं। इनमें कवि प्रतीकों के माध्यम से अपनी भावना को प्रगट करता है। यह एक आश्चर्य की बात है कि कवि ने यहां पर भी वे ही विषय लिए हैं, जो उसने कभी प्रकृति के सम्मोहन से आकृष्ट होकर लिए थे। अन्तर दृष्टि का है। यहां कवि की दृष्टि उनमें छायावादी सौन्दर्य की अपेक्षा किसी और ही सौन्दर्य को देख चुकी है। 'जगत्-घन', 'मेघों के पर्वत', आदि कविताओं में यह बात भली प्रकार देखी जा सकती है। यहां ये प्राकृतिक उपमान प्रकृति के सन्देशवाहक उतने नहीं रह जाते, जितने कि प्रतीकात्मक रूप में जीवन का सन्देश को देने वाले बन जाते हैं। कवि हर कविता में अन्तर्मुख होने के लिए उत्सुक दीखता है।

जब घिरे जगत् घन मुझ पर, मैं करूं तुम्हारा चिन्तन...
युग-विषाद का भार वहन कर, तुम्हें पुकारूं प्रतिक्षण।

अथवा, **मौन गुंजरण जगाता मन में, मर्-मर् धूप के वन में।**

इनके साथ ही 'प्रकृति के गीत' आते हैं। पर यहां प्राकृतिक वस्तुएं प्रधान होकर भी लक्ष्य नहीं हैं। वे भी किसी एक वृहत् साधना का अंग बनकर आती हैं। 'शरद-चेतना' और 'शरद-श्री' के उदाहरण पर्याप्त स्पष्ट हैं :

क्या किरणों ने चूम खिलाए, रंग भरे फूलों के आनन ?
सृजन प्राण, रे, स्पर्श प्रेम का सच, है, जीवन करता धारण।

एक और गीतों का भेद है, जिसे भावात्मक नाम से पुकारा गया है। इसमें ममता, अभिलाषा, आदि कविताओं का अन्तर्ग्रहण हो जाता है।

परन्तु यहां भी कवि तुलनात्मक दृष्टि को लेकर अधिक चलता है।

चांदनी चार दिन रहती है, तुम क्षणभर में होती ओझल,
तुम मुझे चांदनी से प्रिय हो, चपले, मैं ममता का बादल।

'उत्तरा' का महत्व एक और दृष्टि से भी सर्वाधिक ठहरता है। यह इस कारण कि कवि ने इसकी भूमिका में प्रगतिवादियों द्वारा की जाने वाली अपनी आलोचना का उत्तर दिया है। कवि द्वारा नया जीवन-दर्शन अपना लिए जाने पर उसकी अधिक मज़ाक उड़ाई गई। तब कवि ने उनके प्रत्येक तर्क का उत्तर देने के लिए 'उत्तरा' की भूमिका को चुना। यहां कवि ने मार्क्सवाद और उसके आधार पर गठित राजनैतिक ढांचे की सयुक्ति विवेचना की है। वे मानते हैं कि आज का मानव अत्यधिक बुद्धिवादी होकर जीवन के वास्तविक प्रश्नों से बहुत दूर निकल गया है। अनेक आलोचकों ने इस रचना को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया किया है।

कला की दृष्टि से भी इस रचना का महत्व अत्यधिक स्वीकार किया गया है। इसमें कवि केवल समस्याओं की गहराई में ही नहीं उतरा, बल्कि उसने स्वतंत्र भावनात्मक गीतों का भी सृजन किया है। कुछ कविताएं, प्रगतिवाद का उत्तर देने के कारण, जटिल भी अवश्य लगती हैं। अन्यथा, सर्वत्र कवि सरल दृष्टि लेकर ही चला है। यहां कवि की भाषा भी अधिक सरल हो उठी है।

११. **युगान्तर** में कवि इन्हीं भावनाओं को लेकर चलता रहा है। उसमें किसी प्रकार का विशेष अन्तर नहीं है। इतना अवश्य है कि उसमें एक नये युग की सूचना अन्तर्हित है।

१२. **युगपथ** में भी कवि अपने इसी नये पथ को सांस्कृतिक दृष्टि से सिद्ध करने में लगा रहा है। उसमें भी प्रार्थना-गीत हैं, और उसमें भी निवेदन और समर्पण की भावनाएं हैं। भगवान् राम, योगी अरविन्द, कवीन्द्र रवीन्द्र, और महात्मा गांधी, जैसे प्रधान आध्यात्मिक नायकों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि कवि ने अर्पित की है। परन्तु इस

श्रद्धांजलि के बहाने से ही वह अपनी जीवन-दृष्टि के समर्थन में इन महान् आत्माओं की साक्षी प्रस्तुत करना चाहता है। अपने जीवन-दर्शन को स्पष्ट करने के लिए कवि कितना लालायित है, यह बात 'भारत-गीत' और 'जागरण' नाम कविताओं से अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'भारत-गीत' राष्ट्रीय गीत के रूप में लिखा गया है, परन्तु उसमें जीवन के उच्चतम आदर्शों को भी ध्यान में रखा गया है। 'जागरण' में भारत की स्वतंत्रता की बात की गई है, पर वहां अरविन्द की भांति भारत को युगादर्श प्रस्तुत करने के लिए आह्वान भी किया गया है।

मिट्टी से ही सटे रहेंगे, क्या भारत भू के भी जन-गण,
क्या न चेतना-शस्य करेंगे, वे समस्त पृथ्वी पर रोपण ?

विवेचनात्मक कविताओं में भाषा कुछ कठिन रही है। पर, अन्यत्र वह सरल ही है।

१३. अतिमा—हमने 'अतिमा' को अरविन्द-दर्शन से प्रभावित काव्य में ही स्वीकार किया है, परन्तु यह सत्य है कि इस समय तक कवि बहुत सी धारणाएं स्वतंत्र रूप में भी विकसित कर चुका था। उसकी ये धारणाएं 'अतिमा' से ही व्यक्त होनी आरम्भ हो जाती हैं। यहां वह केवल दूसरों के मार्ग की व्यवस्था नहीं करता, परन्तु अब तक जो कुछ उसने देखा है अपनी दृष्टि से उसे भी प्रस्तुत करता है। इन रचनाओं के वर्ग 'उत्तरा' के समान ही किए जा सकते हैं। इसके अनेक गीतों में वर्णनात्मक वृत्ति भी पाई जाती है। कुछ गीत अधिक लम्बे हो गये हैं, पर तो भी कवि का कवि रूप और विचारक रूप इस में प्रधान रहा है। 'संदेश', 'कूर्मांचल के प्रति', और 'जन्मदिवस' आदि कविताएं कुछ लम्बी हो गई हैं। पर अन्यत्र बहुत सी छोटी, वर्णनात्मक और सजीली कविताएं भी हैं। इनमें से कुछ चिंतन की गहराई को लिए हुए हैं। 'गीतों का दर्पण' और 'जिज्ञासा' ऐसी ही कविताओं में आती हैं। पर 'आह्वान', 'स्मृति', आदि कविताएं भावनात्मक हैं। 'सोन-जुही' कविता प्रकृति-परक कविताओं की प्रतिनिधि हैं। कवि ने 'मेंढक' आदि पशु-पक्षियों

को भी मानव-जीवन के लिये संदेश देने वाला स्वीकार किया है। इस प्रकार कवि ने स्वतंत्र भारत के लिए अपने 'जीवन-दर्शन' को इस रचना में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यह कहना कि इसमें कवित्व हीन हुआ है, केवल कुछ अंशों तक ही ठीक हो सकता है। अन्यत्र यह बात उचित नहीं है।

१४. वाणी—इस रचना का आरम्भ कवि की 'आत्मिका' से हुआ है। यह एक लम्बी रचना है, और इसमें कवि ने अपने जीवन को संपूर्ण रूप में प्रस्तुत कर दिया है। यह रचना कवित्व-विश्लेषण और वर्णन में मिली-जुली होकर भी कवि के अपने दृष्टिकोण और जीवन का पूर्ण परिचय हमें देती है। इसे चार खंडों में बांटकर कवि ने प्रस्तुत किया है। चौथा खण्ड भारत की स्वतन्त्रता के बाद के कवि-जीवन और उसके जीवन-दर्शन को लेकर लिखा गया है। कवि यहां दिव्य-जीवन के अवतरण की प्रतीक्षा में रत है।

> **आज रुपहले अन्तर-हिम-शिखरों पर,**
> **सुनता मैं स्वर्णिम रथ चक्रों का स्वर,**
> **उतर रहे भावी के भुवन अगोचर,**
> **सप्त अश्व रवि कवि पंखों पर भास्वर।**

इसके अतिरिक्त अन्य भी कविताएं पृथ्वी पर, और विशेषतः भारत में, सांस्कृतिक जीवन अथवा संस्कृत इन्द्रिय-जीवन की स्थापना के लिए प्रार्थना अथवा आशा के रूप में लिखी गई हैं। कवि का आशावाद निम्न रूप में कहा जा सकता है—

> **ईश्वर के संग विचरे मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति।**

१५. कला और बूढ़ा चांद—इस संग्रह में कवि ने अपनी सन् '५८ की रचनाओं को गृहीत किया है। यह रचना साहित्य अकादमी से पुरस्कृत भी हो चुकी है। इसमें कुल मिलाकर नब्बे रचनाएं हैं। ये सब रचनाएं इतने विविध विषयों पर हैं, और इतनी विविध अभिव्यक्ति के साथ सामने आई है, कि कवि का सारा कवित्व ही एकबारगी हमारे

सामने आ जाता है। ऐसा लगता है कि कवि ने उस वर्ष जीवन के सभी ज्ञात पहलुओं पर यत्किंचित् विचार किया है। उस प्रतिक्रिया को ही वह इन छोटी कविताओं में बंद करने में समर्थ हुआ है। एक आलोचक ने इन कविताओं को 'गद्य-काव्य' कहा है। परन्तु, यह बात नितांत भ्रामक है। सच बात यह है कि, निराला के मुक्त छन्द की भांति, इन रचनाओं में भी कवि ने एक प्रकार की लय का संधान किया है। इन्हें लय से हीन नहीं माना जा सकता।

इस रचना का शीर्षक और पहली दोनों कविताएं कवि के अपने जीवन और उसकी साहित्य-साधना के प्रतिनिधित्व की भावना से लिखी गई हैं। पहली रचना में कवि स्वयं को—'वह बूढ़ा प्रहरी, प्रेम की ढाल' के रूप में कहता है। बाद में वह अपनी वर्तमान स्थिति को फिर से जांचता है।

कला के बिछोह में
म्लान था,
नये अधरों का अमृत पीकर
अमर हो गया।

और, **पतझर की ठूंठी टहनी में**
कुहासों के नीड़ में,
कला की कृश बांहों में झूलता
पुराना चांद ही
नूतन आशा
समग्र प्रकाश है।

कला को ही वह मानवता के लिए व्यापक प्रकाश का वाहक मानता है। वह उसमें सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय देखना चाहता है।

शिव की कला ही सत्य और सुन्दर है !

इस काव्य के विषयों में वे सभी विषय अन्तर्गृहीत हो जाते हैं, जिन्हें आज का प्रयोगवादी कवि 'उपेक्षित' मानता है। कवि ने विचार

प्रयोगवादी ढंग से नहीं किया है। उसकी **कला** में प्रयोग की भावना अवश्य है, किन्तु उसकी **भावना** अपने अमर पथ पर बढ़ती रही है।

भाषा की दृष्टि से भी यह काव्य फिर से कवि के आरम्भिक काव्य-जीवन की याद दिला देता है। छन्दों और उसकी पंक्तियों की लघुता के समान ही भाषा के शब्द भी लघु और सरल हो उठे हैं। वस्तुतः विषयों की सरलता के कारण और उनके जन-जीवन में से गृहीत होने के कारण ऐसा हुआ है। कवि ने हर स्थान पर अपनी कठिनतम भावनाओं को सरलतम रूप में व्यक्त किया है। 'केवल' शीर्षक कविता में कवि अपनी भावना को इस तरह व्यक्त करता है—

केवल
प्रकाश और सौन्दर्य
प्रीति के यमल।

१६. **लोकायतन**—यह कवि का नवीनतम महाकाव्य है। इसे कवि ने 'युग का महाकाव्य' कहा है। इसके निर्माण में उसे चार वर्ष लगे हैं। विशालता की दृष्टि से 'कामायनी' से तिगुना और 'उर्वशी' से लगभग दुगना यह महाकाव्य महत्त्व में उन दोनों की कोटि का ठहरता है। कवि के जीवन की कला, भाषा, चित्रण-सामर्थ्य और चिन्तन-सामर्थ्य—सभी कुछ यहाँ अपने निखार पर आ गया है।

इस पर विस्तृत विचार हमने पृथक् से किया है।

ख० गीतनाट्य—इन रचनाओं के अतिरिक्त कवि ने कुछ गीतिनाट्य भी लिखे हैं। 'रजत शिखर' 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' इनमें से मुख्य हैं। तीनों में कवि ने 'स्वर्ण-जीवन' को ही चित्रित किया है। तीनों ही 'काव्य' के अन्तर्गत गृहीत होने चाहिएं; क्योंकि उनका बाह्य परिवेश भले ही नाटक का रहा हो, परन्तु उनकी आन्तिरिक भावना काव्य की ही रही है।

१. **रजत शिखर**—इसमें कवि ने, प्राकृतिक वर्णन के बहाने से कवि और वैज्ञानिक बीच रहने वाली शाश्वत समस्या को लिया है। कवि

और वैज्ञानिक अपने-अपने मत को खूब जोर-शोर से व्यक्त करते हैं। कवि की दृष्टि में जगत् 'फूलों का देश' है। प्रसाद की भांति वह भी इसे 'इच्छा और स्वप्न' का ही लोक मानकर चलता है। पर इच्छा के लोक में भी कुछ अवधेय सत्य होते हैं, जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। कवि, उसी रूप में, कवि और वैज्ञानिक के दृष्टिकोण को एकांगी बताता है। अन्त में जनरव के द्वारा वह कहलवाता है :

आज प्रार्थना, जन-श्रम मिलकर ज्योति-शक्ति से,
शान्तिधाम जनमंगल धाम बनाएं भू को।

स्पष्ट है कि यहां कवि की भावना अरविन्द-दर्शन से ही अत्यधिक प्रभावित है। इस 'रजत शिखर' में ही कवि ने षड्-ऋतु वर्णन देकर प्रकृति पर अपना अधिकार फिर से प्रकट किया है। इस रूप में एकत्र वर्णन उसने पहले किसी और रचना में नहीं दिया था। इसमें से 'शरद-वर्णन' का एक पद ही उसकी दार्शनिक पहुंच का स्पष्ट कर देगा।

वह जीवन रंगों का मोहक, फैलाती छाया अंचल री,
तुम प्रीति द्रवित स्वर्णाभा सी, पावन कर जातीं भूतल री।

२. **शिल्पी**—यह उनका सबसे प्रसिद्ध गीतिनाट्य स्वीकार किया गया है। इसमें कला की भावना और उसकी उपयोगिता को प्रकट किया गया है। 'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए' का विवाद आरम्भ से ही चलता आया है। कवि यहां कला को मानव के आन्तरिक और बाह्य ज्ञान में समन्वय स्थापित करने का एक माध्यम स्वीकार करता है। आज का मानव विज्ञान के दुष्परिणामों से त्रस्त है। वह नये सिरे से सृजन की पुकार मचाता है। आज के युग के वैज्ञानिक स्वर को मिटाकर वह पुराने भूले हुए सत्यों को अपनाने के लिए दौड़ने लगता है। परन्तु कवि विज्ञान के ध्वंस और कला के सृजन को भी अनिवार्य मानता है। विज्ञान का ध्वंस अन्तिम सत्य नहीं है। वह फिर से पलटेगा और संसार में फिर से निर्माण-भावना आरम्भ होगी। पर उसे बलात् आरम्भ नहीं किया जा सकता। उसके लिए मानव-मन का

अपना विकास अधिक आवश्यक है।

> जय हो नव मानवता की जय नव संस्कृति की,
> जिसके पावन अमृत-स्पर्श से, ध्वंस शेष से,
> धरा-स्वर्ग नव निखर रहा जन मनः-क्षितिज में।

३. सौवर्ण—कवि ने इस गीतिनाट्य में स्वर्ण-जीवन का पूरा आभास दिया है। कवि भारत और मानवता के भविष्य को देखते हुए एक नये स्वर्गीय जीवन की कल्पना धरती पर उतारना चाहता है। 'सौवर्ण' उस जीवन का ही प्रतीक है। वह अपने लिए कहता है :

> प्राण हरित जीवन पादप में।

कवि इस नाटक में अपना लक्ष्य इस रूप में प्रकट करता है :

> युग युग की वह मौन प्रतीक्षा, मर्म-गुंजरित जीवन दीक्षा,
> सफल आज, जन भू में अर्जित, इन्हें स्नेह से हृदय लगाएं।

इन तीनों ही गीतिनाट्यों में, इसप्रकार, परम्परा और तारतम्य को खोजा जा सकता है। कला की दृष्टि से इनकी विवेचना में यही कहा जा सकता है कि इनका निर्माण रेडियो के ध्वनि-रूपकों की शैली पर हुआ है। इनमें ध्वनि-प्रभाव अधिक अपेक्षित रहते हैं। कुछ स्थानों पर संगीत और कवित्व की अपेक्षा गद्य और विचार तत्त्व की प्रधानता व्याप्त दिखाई देती है। कवि ने लिखा तो पद्य ही है, पर फिर भी उसमें गद्य की सी भावना मौजूद है।

भाव-शृंखला—इस प्रकार कवि की इन रचनाओं की विवेचना में हमने यह देखा कि कवि आरम्भ से भावनाओं के एक विकास-क्रम में बढ़ता रहा है। उसकी ये सभी रचनाएं एक के बाद दूसरी के क्रम से आती गई हैं। अब भी वह जिन रचनाओं को जब-तब लिखता है, उनमें देश, युग और संस्कृति की भावना प्रधान रहती है। पर अब उसका चिंतन धरती के यथार्थ के समीप आकर भी एक विचारक की भांति धरती से उतनी ही दूरी पर है। सत्य यह है कि कवि आरम्भ से ही विचार-प्रधान रहा है। केवल आरम्भिक तीन रचनाओं में वह भावना

के आवेश में बहा है, अन्यथा उसके बाद से वह विचारक के रूप में ही बढ़ता रहा है। यह बात अब एक नया रूप अवश्य धारण कर चुकी है। आयु की प्रौढ़ता के साथ साथ उसके विचारों की सरलता और युक्तियों में साधारण जीवन-दर्शन की मात्रा बढ़ती जा रही है। वह अब गहरे तर्कों में उलझने के स्थान पर चारों ओर के जन-जीवन में से तर्क ढूँढने लगा है।

कला में निरन्तरता—यह बात उसकी कला पर भी लागू होती है। उसकी कला में अब छन्द, अलंकार आदि का सन्निवेश ठूँस ठाँस कर नहीं लाया जाता, और न ही उसके लिए किसी प्रकार का श्रम करना पड़ता है। वह तो अनायास ही आ जाता है। उसकी भाषा जन-भाषा के अधिकाधिक समीप आने लगी है। उसके विषय दैनिक जीवन में से गृहीत होने लगे हैं। पर, इतने पर भी कवि के विचारों में परिवर्तन नहीं आया है। कवि के जीवन में अब तक जितने भी मोड़ आए हैं वे सब आपत्तिजनक न लगेंगे, यदि हम इस बात को समझ लें कि अन्ततः उसे आज की मंजिल पर पहुंचने के लिए उन सब सोपानों को पार करना आवश्यक था। *उसका दार्शनिक विकास एक क्रम में हुआ है, और वह स्वयं बहिर्मुख से अन्तर्मुख होता गया है। आज वह जिस भूमिका पर स्थिर है, वहां वह अन्तर्मुख हो कर भी बाह्य जगत् और उसकी समस्याओं को देखने में पूरी तरह समर्थ है।*

५

प्रकृति-चित्रण

'पाठक' और 'पंत'—आधुनिक हिन्दी साहित्य में पंत ही ऐसे कवि ठहरते हैं, जिन्होंने प्रकृति को सजीव रूप दे दिया है। श्रीधर पाठक का नाम भी इस विषय में गौरव के साथ लिया जाता है, किन्तु उनमें और पंत में, इस विषय में, किसी भी प्रकार का साम्य नहीं ठहरता। वे दोनों ही प्रकृति-चित्रण की दो दिशाओं के प्रतिनिधि ठहरते हैं। जहां श्रीधर पाठक वर्णनात्मक विस्तार के कवि कहला सकते हैं, वहां पंत प्रकृति के हास-विलास और रंगों के कवि ठहरते हैं। पाठक जी प्रकृति के चित्रकार बनकर रह गए, जबकि पंत प्रकृति के खिलाड़ी और साथी सिद्ध हुए हैं। उत्सुकता और आकांक्षा का सुन्दर संयोग 'पंत' की कविता में सबसे अधिक पाया जाता है।

प्रकृति और अव्यक्त—'छायावाद' को प्रायः प्रकृति का काव्य कह दिया जाता है। निराला, प्रसाद और महादेवी ने भी प्रकृति के सुन्दर दृश्यों का अंकन किया है। पर सत्य यह है कि वे सब प्रकृति को स्वतन्त्र मानकर नहीं चले हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर उसे एक माध्यममात्र बनाकर रख दिया है। ऐसे स्थानों पर प्रकृति किसी एक वक्तव्य वस्तु के वहन का माध्यम बन जाती, और उसका वैयक्तिक स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है। अध्यात्म अथवा सर्वात्मवादी भावना के प्रसार के कारण प्रकृति के व्यक्तित्व को इस प्रकार समाप्त कर देना उचित नहीं ठहराया जा सकता। छाया और आत्मा को एक ठहराने वाले आलोचक यह भूल जाते हैं कि 'छायावाद' में छाया देने वाले और छाया ग्रहण करने वाले

दोनों का व्यक्तित्व और महत्त्व कायम रहना चाहिए । प्रसाद और निराला कुछ दूर तक ऐसा करने में समर्थ हुए हैं । महादेवी ने भी वातावरण-निर्माण के लिए अनेक स्थानों पर इसी प्रकार के प्रयोग किए हैं। पर, जब हम प्रकृति को माध्यम बनाकर किसी अव्यक्त चेतना की प्रतीकमात्र बना बैठते हैं, तब आपत्ति का स्थल आता है । अव्यक्त चेतना का सम्बन्ध रहस्यवाद से ही गिना जाना चाहिए। सर्वात्मवादी भावना और अव्यक्त चेतना के वर्णन में एक विशेष अन्तर है । प्रकृति को देखते हुए जब हम उसके सौन्दर्य के बीच से ही एक सर्वव्यापकता अथवा सर्वत्र व्यापक सत्ता का आभास पा लेते हैं, तब जिस प्रकार की अध्यात्म-भावना जगती है, उसे दार्शनिक अध्यात्म-चेतना और सर्वात्म-वाद से भिन्न ही समझना चाहिए। महादेवी ने स्वयं छायावाद की परि-भाषा देते हुए स्वीकार किया है कि 'स्थूल में सूक्ष्म चेतना का आभास पा लेना' ही छायात्मक अनुभूति है। रहस्यवादी स्थूल को केवल माध्यम मानकर चलता है, जबकि छायावादी स्थूल के व्यक्तित्व को स्वीकार करके भी उसके सौन्दर्य में से ही अनन्तता का आभास पा लेता है। यह आभास आत्मा के आभास से बिल्कुल भिन्न है। हम जिस भी वस्तु को देख रहे हैं, हमारे लिए वह स्वयं अनंत और असीम हो उठती है। पंत के प्रकृति-चित्रण की यही विशेषता है कि उन्होंने जो कुछ भी देखा, उसमें इतनी व्यापकता अनुभव की और उस व्यापकता को इस रूप में वर्णन किया कि स्वयं प्रकृति उनके लिए अनन्त बन उठी। यही कारण था कि प्रकृति के रंग और उसकी गतिविधि उनके लिए सजीव हो उठे, और उन्हें प्रकृति में ही चेतना का आभास होने लगा। यही अन्तर है पंत में, और अन्य छायावादी कवियों एवं श्रीधर पाठक में। पंत ने प्रकृति को अनन्त और चेतन देखकर उसे खुली आँखों से पहचाना है। इसीलिये उन्हें हिन्दी-साहित्य का प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से, सर्वोत्कृष्ट कवि स्वीकार किया जाता है।

'पल्लव' तक वैशिष्ट्य—प्रकृति-चित्रण की यह अवस्था यूँ तो

उनकी काव्य-धारा के आरम्भ से अब तक चली आ रही है, किन्तु प्रकृति को चेतन समझने की उनकी भावना 'पल्लव' नाम की रचना तक ही स्वीकार की जा सकती है। 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में कवि ने प्रकृति का जितना भी वर्णन किया है, वह अनन्त सौन्दर्यमय होकर भी माध्यम के रूप में पलट जाता है। वहाँ प्रकृति स्वयं वर्ण्य नहीं रहती। इसलिए प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में हमें 'प्रकृति के कोमल कवि पंत' के कृतित्व का विचार 'पल्लव' तक की रचनाओं के प्रकाश में ही करना है। उसके बाद के प्रकृति-चित्रण पर स्वतन्त्र रूप में अन्यत्र कुछ कहा जा सकता है।

यहीं एक और सत्य का भी ध्यान रख लेना उचित होगा : वह यह कि 'पल्लव' तक कवि केवल प्रकृति का ही चितेरा नहीं रहा है। 'वीणा' में उसने प्रकृति का अधिक आश्रय लिया है, 'ग्रंथि' में वह नारी के सौन्दर्य से अधिक खिंचा है, और 'पल्लव' में वह नारी और प्रकृति के सौन्दर्य से ऊपर उठकर शुद्ध सौन्दर्यानुभूति का कवि बन गया है। परन्तु इस पर भी हमने इस सारी स्थिति को 'प्रकृति-चित्रण' की दिशा में ही अन्तर्गृहीत किया है। इसका कारण यही है कि कवि का आकर्षण चाहे अनैन्द्रियक रहा हो या ऐन्द्रियक, वह बाह्य सौन्दर्य से इतना अधिक प्रभावित रहा है, और उसे उसमें समानरूप से एक अनन्त चेतना का आभास इतने अधिक रूप में मिला है, कि हम प्रकृति अथवा मानवी के भेद को भूलकर उसकी सौन्दर्य-चेतना से अभिभूत हो जाते हैं। पंत की इस सौन्दर्य-चेतना को उसके प्रकृति-चित्रण से अलग नहीं किया जा सकता ; क्योंकि 'बादल' आदि 'पल्लव' की कविताओं में कवि ने प्रकृति के प्रति भी उतना ही रुझान दिखाया है, जितना कि अन्य कविताओं में मानवी सौन्दर्य के प्रति।

तीन चरण—हम यह बात पहले स्पष्ट कर आए हैं कि इस अवस्था में कवि ने तीन चरणों को पार किया है। ऊपर हमने इन तीनों चरणों का वर्णन रचना-क्रम से किया है। विषय-क्रम से हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं :

१. प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति समर्पण,

२. नारी के भौतिक-सौन्दर्य के प्रति आकर्षण,

३. जड़ और चेतन सौन्दर्य में सम-अनुभूति ।

इनमें से कवि जब प्रथम चरण से द्वितीय चरण पर आता है, तब एकाएक पाठक को आश्चर्य होता है। वह सोचने लगता है कि क्या कवि सचमुच बिल्कुल पलट गया है ? परन्तु जब वह तृतीय चरण में पहुंचता है, तब उसके सामने एक स्पष्ट अनुभूति जग जाती है कि कवि 'शुद्ध सौन्दर्य' का उपासक हो उठा है; वह पलटा नहीं है । हम इन चरणों का वर्णन क्रमशः करेंगे ।

प्रथम चरण—कवि ने अपने आरम्भिक कवि-जीवन में जिन आंग्ल कवियों की रचनाओं को पढ़ा, और उसने जिस प्रकार के पर्वतीय सौन्दर्य के वातावरण को अपने चारों ओर पाया, उस सबने मिलकर उसे एक अजीब उन्माद से भर दिया । किशोर आयु का कवि प्रकृति के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर एक ऐसे आनन्द में डूब गया कि सांसारिक मायाजाल किसी भी प्रकार उसे आकर्षक न लगे । अब उसके सामने केवल एक ही दृष्टि थी और एक ही आकर्षण! वह प्रकृति में ही 'माँ', 'बहिन', और 'प्रेमिका' के प्यार और आकर्षण को पा चुका था। उसके लिए अब किसी भी अन्य आकर्षण का कोई भी महत्त्व नहीं रह गया था। यह बातें 'मोह' नामक उसकी कविता से अधिक स्पष्ट हो जाती हैं ।

बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?

में यही भावना व्यक्त हुई है । वह प्रकृति ही नहीं, उसके पशु, पक्षी, वृक्ष आदि उपादानों तक से अत्यन्त प्रभावित है। वह ऊषा, संध्या, किरण, छाया आदि अन्य सभी उपादानों से भी अत्यधिक आकृष्ट है । अंधकार और प्रकाश उसके लिए समान आकर्षण रखते हैं। प्रकृति के पत्तों का हिलना और निर्झर की गति में उसे पक्षियों की चहचहाहट से कोई भी भिन्नता नहीं दिखाई देती। उसे लगता है जैसे प्रकृति उसे बुला

रही है। उसके बुलावे में उसे एक अजब मधुरिमा और सौन्दर्य उमड़ता दीखता है।

मधुरिमा के मृदु हास !
किस अदृश्य गुण से तुम मुझको, खींच रहे हो पास ?
सुनाई देता है बस गीत, बुलाने की यह कैसी रीति ?

आध्यात्मिक संकेत—यहां वह उन विषयों को भी लेता है, जिन्हें प्रसाद ने भी लिया था। पर उसके वर्णन में अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रसाद की 'किरण' कविता छायावाद में अत्यन्त प्रसिद्ध है, पर उसमें रहस्यात्मक संकेतों की प्रचुरता है। 'पंत' कदाचित् उस भावना को तो नहीं लेते; पर फिर भी उनकी 'किरण' कविता में कुछ मिलते-जुलते भाव, दूसरे शब्दों में, खोजे जा सकते हैं। यह बात ठीक है कि यहां प्रसाद की प्रौढ़ता और पंत के नवीन प्रयास का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है।

हे करुणाकर के करुणा-कर, तुम अदृश्य बन आते हो,
रज कण को छू बना रजत कण, प्रचुर प्रभा प्रकटाते हो।
अरुण अधखुली आंखें मलकर, जब तुम उठते हो छविमय,
रंग रहित को रंजित करते, बना हिमालय हेमालय।

इस कविता में पन्त भी प्रार्थना की मनोदशा में आ गये हैं। पर उनकी यह प्रार्थना परमात्मा के प्रति नहीं है। अन्यत्र 'काला बादल' अथवा 'पावस प्रदेश में वर्षा ऋतु' आदि में इस प्रकार के किसी आध्यात्मिक अथवा अतिभौतिक संकेत के चिन्ह नहीं हैं।

इस चरण में ही कवि ने कुछ ऐसे वर्णन भी किये हैं, जहां उसकी उत्सुकता अधिक प्रगट हुई है। कुछ जगह उसने वातावरण का भी सुन्दर निर्माण किया है। 'प्रथम रश्मि' में वह कहीं-कहीं एक ही पद्य में बहुत-से भाव भरने में समर्थ हो गया है।

खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि, जगी सुरभि, डोले मधुबाल,
स्पन्दन, कम्पन औ' नव जीवन, सीखा जग ने अपनाना।

सचेतन व्यक्तित्व—यही काव्य की वह अवस्था है, जहाँ कवि शब्दों के मोह को छोड़ कर भी उनका खिलाड़ी बना रहा है। उसने रूप और रंग के संसार से इतना निकट परिचय पा लिया है कि उसके लिए अरूप भी सरूप और मौन भी मुखर हो उठा है। किरण उसे बोलती दीखती है, और 'निर्झर' में उसे कुछ संदेश मिलता है। वह सरिता में स्नेह को खोजता है, और उपालम्भ को साकार पा लेता है। छाया उसके लिए शरीरधारिणी बन जाती है, और अन्धकार सुजान और सहचर होकर सामने आता है। इसे केवल मानवीकरण कहकर टाला नहीं जा सकता।

कला-प्रयोग—कला के नये प्रयोग भी इस अवस्था में अधिक हुए हैं। छन्दों की दृष्टि से 'नैराश्य' और 'चेतक के प्रति' आदि कविताएँ अत्यधिक आकर्षक हैं। अनुप्रास और अलंकारों का प्रयोग भी खुलकर हुआ है। 'यौवन के अंचल', 'कल्पना की तन्त्री', 'कनक हास', आदि में कवि की आलंकारिक चेतना की नवीनता देखी जा सकती है। यहां यह बात संकेत कर देनी आवश्यक है कि कवि दूसरे छायावादी कवियों से इस विषय में एकदम भिन्न है कि उसने प्रायः किसी भी चली आ रही परम्परागत उपमा को स्वीकार नहीं किया है। वह प्रायः अपनी नई ही उपमाएं ढूंढता है, और ये उपमाएं उसे अनायास मिल भी जाती हैं। उसे श्रम नहीं करना पड़ता। प्रसाद और महादेवी इस विषय में परम्परा के अनुगामी कुछ अधिक रहे हैं। 'निराला' अवश्य नई उपमाओं को खोजने में आकुल दीखते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह कवि उपमाओं आदि के ढूंढने में उलझता कम है; ये स्वयं ही आ जाती हैं। 'अश्रुकणों का हार' और 'तृष्णा ही कौस्तुभमणि', आदि में कवि के इस प्रकार के उपमान अत्यधिक स्पष्ट हो जाते हैं। कदाचित् सारी कविताओं में कुछ ही स्थल ऐसे खोजे जा सकते हैं। जिनमें वह परम्परा का अनुगामी रहा है। कुछ कविताओं में आत्म-निवेदन या प्रार्थना का भाव अवश्य आया है। परन्तु, यह भी कवि की अपनी तटस्थता के ही कारण आया दीखता है।

द्वितीय चरण—इस चरण में पन्त नारी के प्रति अधिक आकृष्ट रहे

हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने प्रकृति के सौन्दर्य से अपना ध्यान खींच लिया है। इसके विपरीत सत्य यह है कि 'ग्रन्थि' में आकर एक ओर वे प्रकृति के प्रेम से भी आकृष्ट रहे हैं, और दूसरी ओर नारी भी उन्हें आकृष्ट कर चुकी है। इसमें पहली अवस्था से अन्तर यही है कि अब वे केवल प्रकृति का मानवीकरणमात्र नहीं करते, बल्कि वे उसे साकार मानवी के ही रूप में देखना शुरू कर देते हैं। 'छाया' और दूसरी कुछ कविताएँ इसी बात की द्योतक हैं। 'स्वप्न' और 'ग्रंथि' कविताओं में प्रथम बार हमें एक भेद नजर आता है। 'स्वप्न' में कवि प्रकृति के भूतकालिक स्नेह को याद दिलाकर पूछ बैठता है :

सजनि हमारा स्वप्न-सदन क्यों, सिहर उठा सहसा थर-थर ?

और, वह एक बार प्रकृति के इस खोए प्रकाश को पाने के लिए फिर से मचल उठता है। उसका प्रश्न है :

पर, मेरे तम-पूर्ण हृदय में, कौन भरेगा प्रकृत प्रकाश ?

'ग्रन्थि' कविता उस कारण को बताती है, जिसके कारण कवि के हृदय से प्रकृति का वह आकर्षण छिन गया है। यहाँ हमें पता चलता है कि कवि प्राकृतिक सौन्दर्य की अपेक्षा किसी दैहिक सौन्दर्य से अधिक आकृष्ट हो गया है। उसका परिणाम यह है कि अब उसे प्रकृति का अपना सौन्दर्य उतना आकर्षक नहीं दिखाई देता, जितना कि उसमें छाया हुआ अपनी ही प्रेमिका का सौन्दर्य !

प्रेम की अनन्तता—एक ओर वह प्रकृति के कण-कण में अपनी प्रेमिका की आभा को खोजता है :

इंदु की छवि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि में,
एक उत्सुकता विचरती थी सरस,
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में।

दूसरी ओर, वह प्रकृति के कण-कण में अपनी वेदना को भी छिपा हुआ पाता है :

विजन छाया में द्रुमों की मौन सी,
विचरती है आज मेरी वेदना,
विपुल कुंजों की सघनता में छिपी,
ऊँघती है नींद सी मेरी स्पृहा।

यही बात 'छाया' में भी देखी जा सकती है। वह प्रकृति का एक चित्र है। पर, इतना होते हुए भी कवि उसमें एक वियोग-तप्ता की भावना पा लेता है, और उसमें अपने हृदय के साथ एक समानता को ढूँढ निकालता है।

हाँ, सखि आओ, बाँह खोल हम, लग कर गले जुड़ा ले प्राण,
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में, हो जावें द्रुत अन्तर्धान।

'उच्छ्वास' और 'आंसू' कविताओं में यही नारी-प्रेम अधिक चित्रित है—

मिले थे मानस-नभ अज्ञात,
स्नेह शशि बिम्बित था भरपूर,
अनिल सा कर करुणा आघात,
प्रेम प्रतिमा कर दी वह चूर। (उच्छ्वास)
मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को,
थाम ले अब हृदय ! इस आह्वान को,
त्रिभुवन की भी श्री भर सकती नहीं,
प्रेयसी के शून्य, पावन स्थान को ! (आंसू)

'नारी-रूप' कविता में भी नारी के प्रति आकर्षण विद्यमान है। परन्तु, यह कविता इस द्वितीय चरण की समाप्ति की घोषणा करती है। अतः इसका वर्णन हम अगले ही चरण करेंगे।

सौन्दर्य की अनन्तता— यहां पर यह स्मर्तव्य है कि पंत नारी के केवल भौतिक प्रेम से ही उतने प्रभावित नहीं हैं, जितने कि उसके सौन्दर्य की अनन्तता से। नारी सौन्दर्य की यह अनन्तता अपनी नहीं है। उसे यह कवि की भावनाओं के कारण प्राप्त हुई है। कवि ने नारी में भी प्रकृति के समान ही एक निस्सीम सौन्दर्य को पा लिया है। यही दृष्टि उसे प्रेम

के सामान्य कवियों की अपेक्षा भिन्न वना देती है। वह केवल नारी के शरीर से प्यार नहीं करता, वल्कि उसमें छिपे उस तत्त्व से भी प्यार करता है, जो उसे विश्वचेतना के प्रति उन्मुख करने में सहायक होता है। दार्शनिक भाषा में वह कह उठता है :

बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त, एक स्वर में समस्त संगीत।

कला दृष्टि—कला की दृष्टि से यह यह चरण किसी भी प्रकार पहले चरण से कम नहीं है। इसके वर्णन और इसकी शैली पहले चरण की अपेक्षा कुछ निखरे हुए अवश्य है, किन्तु उनमें स्थिरता भी साथ ही साथ कुछ बढ़ गई है। उसकी उपमाएं आंग्ल-प्रभाव से कहीं-कहीं अब भी सम्पन्न हैं। पर, वह नये पथ का पथिक भी रहा ही है।

इन्द्रधनु सा आशा का सेतु, अनल में अटका कभी अछोर।

में सतरंगी आभा का परिचय रंगों को बिना गिनाए ही दिया गया हैं।

जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण, खोजते हैं तब तुम्हें निदान।

में एक नई ही उपमा जुगनुओं के द्वारा दी गई है। अब तक इनका प्रयोग बिखरे और सीमित प्रकाश की अभिव्यक्ति के लिए होता रहा था। किन्तु, अब कवि ने इन्हें अंधेरे में खोज करने के लिए भी प्रयोग किया है। **'पियालों में फूलों के'** और, **'प्रसूनों के ढिग रुककर, सरकती है सस्वर'** में कवि को अंग्रेजी के प्रभाव से प्रभावित माना गया है। परन्तु, सच यह है कि ये दोनों प्रभाव संस्कृत कविता के अधिक गिने जाने चाहिएं। संभव यद्यपि यह भी है कि कवि का परिचय तव संस्कृत से न रहा हो। यहीं पर कवि एक और वर्णन करता है :

अवनि औ अम्बर के वे खेल, शैल में जलद, जलद में शैल।

यह भावना संस्कृत के उस श्लोक की याद दिला देती है, जिसमें इसी प्रकार के भाव चन्द्रमा और रात्रि तथा अन्य युगलों के संबन्ध में व्यक्त किये गए हैं।

इस प्रकार कवि कला और भावना में पहले से कुछ अधिक गहराई ग्रहण कर गया है, और उसकी सौन्दर्य चेतना में कुछ न कुछ दार्शनिक

स्थिरता प्रवेश कर गई है ।

तृतीय चरण—हमने तृतीय चरण की सीमा 'पल्लव' की **'परिवर्त्तन'** कविता से पहले तक स्वीकार की है । उससे पहले की कविताओं में कवि एक ऐसे सौन्दर्य का उपासक बन चुका है, जिसका संबन्ध नारी या प्रकृति से व्यक्तिगत रूप में नहीं है, बल्कि जिसमें शुद्ध सौन्दर्य की ही उपासना की गई है । अब कवि को मुस्कान, बादल, मधुकरी, निर्झरी, आदि में एक ही समान रुचि दिखाई देती है । यहां वह 'विश्व-वेणु' का उपासक बन उठता है । उसे वीचि-विलास में भी कोई सौन्दर्य संदेश देता-सा दिखाई देने लगता है । शिशु की तुलना वह, दार्शनिक प्रभाव में आकर, संसार से करने लगता है, और स्वयं को भी अज्ञेय संसार के लिए अनजान बना बैठता है । कवि की इन सब भावनाओं का सार और संकेत 'नारी-रूप' कविता के अन्दर ही आ जाता है :

अकेली सुन्दरता कल्याणि ! सकल ऐश्वर्यों की सन्धान ।

नारी का अतिभौतिक रूप—इससे भी बढ़कर वह नारी में एक सर्वव्यापक और अतिभौतिक रूप को खोजना शुरू कर देता है । उसे उसमें दिव्यता, मातृत्व, पत्नीत्व और प्रेमिका की भावनाएं मिलने लगती हैं । वह कह उठता है :

तुम्हारी सेवा में अनजान, हृदय है मेरा अन्तर्ध्यान,
देवि ! मां ! सहचरि ! प्राण !

यह बात उसे शुद्ध सौन्दर्य का उपासक बना देती है । आगे की समस्त कविताओं में वह प्रकृति और नारी के सौन्दर्य के बीच इसी प्रकार की मिली-जुली भावना के दर्शन पाता है । 'अनंग' कविता में वह प्रकृति और मानवीय सौन्दर्य में एक-सूत्रता खोज लेता है—

विपुल कल्पना से, भावों से, खोल हृदय के सौ-सौ द्वार,
जल, थल, अनिल, अनल, नभ से कर, जीवन को फिर एकाकार,
विश्व मंच पर हास अश्रु का, अभिनय दिखला बारंबार,
मोह यवनिका हटा, कर दिया, विश्व-रूप तुमने साकार ।

'शिशु' कविता में वह प्रकृति का ही सारा रूप शिशु के शरीर में पा लेता है। उसके शब्दों में :

मृदुलता ही है बस आकार, मधुरिमा, छवि, शृंगार,
न अंगों में है रंग, उभार, न मृदु उर में उद्गार।

रहस्य के प्रति उत्सुकता—'पल्लव' में ही वह भूमिका तैयार हो जाती है, जहां कवि की सारी उत्सुकता किसी एक रहस्य को पाने के लिए तीव्र हो उठती है। लगता है कि उसने प्रकृति और मानवी से ऊपर उठकर सौन्दर्य की शुद्ध अनुभूति को ही नहीं पाया है, बल्कि वह उस शुद्ध सौन्दर्यानुभूति से भी ऊपर उठकर किसी और सत्य को पाने के लिए लालायित हो उठा है। उसे लगता है जैसे अब तक का देखा हुआ सब कुछ सपना ही था, और खोजने योग्य वस्तु को वह अब तक खोज ही नहीं पाया है। इसीलिए उसे केवल कण-कण में व्याप्त सौन्दर्य ही आकृष्ट नहीं कर पाता, बल्कि वह उस सौन्दर्य में से दीखने वाले किसी और सत्य को भी खोजने के लिए आतुर हो उठता है :

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार, चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार, विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन, निमंत्रण देता मुझको मौन।

(मौन-निमंत्रण)

वह प्रकृति के हर संकेत में, सुख और दुःख की हर भावना में, एक ही सत्य को झांकते पाता है :

अहे सुख-दुख के सहचर मौन ! नहीं कह सकता तुम हो कौन !

'सर्वात्मा' ही रहस्य है—यहां स्पष्ट ही कवि केवल सौन्दर्य की शुद्ध अनुभूति से ही प्रेरित नहीं है, बल्कि वह उसमें एक सजीव सर्वात्मा को खोजने के लिए भी उत्सुक हो उठा है। सौन्दर्य में सर्वात्म-व्यापक चेतना को खोज निकालना एक बात है, किन्तु उसे किसी एक बड़ी सत्ता का संकेत करने वाला समझना दूसरी बात है। स्पष्ट है कि कवि दार्शनिक उलझनों से ऊपर उठकर दार्शनिक दृष्टि को भी पा चुका है। अब उसे

प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति मोह नहीं रहा है। उसके स्थान पर वह एक छिपी चेतना को खोजने के लिए उत्सुक हो उठा है। आगे आने वाली 'परिवर्त्तन' कविता की पृष्ठ-भूमि यहीं से बनती है। यह बात इसलिए समझनी आवश्यक है कि प्रायः हम उसे, इसके बाद दार्शनिक होता हुआ देख कर, पलायनवादी कह उठते हैं। उसका पलायन किसी और कारण से भले ही हो, प्रकृति के सौन्दर्य से भागने की इच्छा उसने कभी नहीं की। हां, वह प्रकृति और जीवन के व्यापक सौन्दर्य में से ही नये-नये सत्य खोजने के लिए सदा उत्सुक अवश्य रहा है।

कला-दृष्टि—यहां यह भी स्पष्ट कर देना अधिक आवश्यक है कि इस चरण में बढ़ते हुए, उसकी कविता की भाषा और कला में किसी भी प्रकार की शिथिलता या कमी नहीं आ पाई है। सच तो यह है कि वह अब तक पूरा दार्शनिक बना ही नहीं है। उसने चिन्तन आरम्भ अवश्य कर दिया है। उसकी दृष्टि के साथ बढ़ने वाली यह सतर्कता काव्य की वस्तु और भावना में समृद्धि लाने वाली ही सिद्ध हुई है। किसी भी प्रकार की हानि उससे नहीं हुई। उपमाओं और अलंकारों की दृष्टि से वह यहां अधिक सतर्क होकर नहीं चला है। पर, इससे उसके काव्य का सौन्दर्य बढ़ा ही है, क्योंकि अब उसे स्वयं चुनाव की चिंता नहीं सताती। कवि स्वयं किसी जकड़ी हुई भावना या भाषा का गुलाम रहकर नहीं बढ़ा है। यहां उसके अलंकार और उसकी शैली अधिक स्वाभाविक हो उठे हैं। 'संबोधन-शैली' अब भी रही है। हां,'प्रश्न-शैली' अवश्य बढ़ती गई है। 'शिशु' और 'मौन-निमंत्रण' में तो यह प्रश्न शैली ही मुख्य बन गई है। 'अनंग' में आशावादी प्रार्थना और मनुहार का स्वर प्रधान रहा है। अन्यत्र, प्रश्न और आश्चर्य मिल-जुल कर आते रहे हैं। 'विश्व छवि', 'निर्झर-गान', 'विश्व-वेणु', आदि में प्रश्न की ही प्रधानता है। 'सोने का गान', 'नक्षत्र', आदि में सम्बोधन शैली प्रमुख है।

एकसूत्रता—इस प्रकार कवि ने अपने व्यापक प्रकृति-चित्रण में ये तीन चरण पार अवश्य किए हैं, और वह नवीन से नवीन शक्ति और

समृद्धि से युक्त भी होता गया है, पर तो भी भावना की एकसूत्रता और अनन्तता के प्रति उत्सुकता समान रूप से सर्वत्र व्याप्त रही है। इस एकतानता या एकसूत्रता को पाए बिना हम कवि के प्रकृति-चित्रण के साथ न्याय न कर सकेंगे।

एक और अन्तर—प्रकृति चित्रण की जो शैलियां काव्य में सामान्य रूप में प्रचलित हैं, उनमें 'उपमान-शैली' और 'प्रतीक-शैली' को प्रायः मुख्यता दी जाती है। पंत का प्रकृति-चित्रण कभी-कभी इन्हीं आधारों पर समझा भी जाता है। सत्य यह है। कि पंत ने जो कुछ भी चित्रण प्रस्तुत किया है,उसमें वह कहीं भी वर्णन की बँधी-बँधाई लीक पर बढ़ने का प्रयास नहीं करता। उसने उपमान-शैली का प्रयोग उस रूप में नहीं किया है, जिसमें कि प्रकृति अथवा मानवी के अंगों को हीनता प्राप्त हो। वह अपने वक्तव्य को अधिक पूर्ण बनाने के लिए भले ही कहीं कोई उपमा आदि दे, परन्तु 'सी' या 'सा' साथ जो उपमाएं आई हैं, उनके बिना कवि का काव्य ही अधूरा रह जाता है। अब यदि हम इन्हें 'उपमान-शैली' के अन्तर्गत मानें, तो कहना पड़ेगा कि कवि ने सर्वत्र ही—प्रत्येक पंक्ति को ही— उपमान शैली में लिखा है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कवि यहां किसी सौन्दर्य के बोध के लिए ऐसा नहीं करता, बल्कि वह तो मानव में प्रकृति और प्रकृति में मानव के सौन्दर्य को मिला-जुला और एकाकार पाता है। यही कारण है कि उसका सम्पूर्ण काव्य एक मिली-जुली भावना से व्याप्त दिखाई देता है। 'प्रतीकशैली' का प्रयोग कवि ने बहुत कम किया है। प्रतीक की आवश्यकता रहस्यवाद या ऐसी ही किसी अन्य संकेतात्मक अवस्था में पड़ती है। यह कवि ऐसे संकेतात्मक प्रयोगों से सर्वथा अछूता रहा है।

इसके विपरीत रंग-चेतना, सौन्दर्य-चेतना, मानवीकरण, नाद-चेतना, आदि की दृष्टि से कवि के प्रकृति-परक काव्य का अपना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, और इस विषय में वह सबसे ऊँचे पद पर विद्यमान है।

६

छायावादी कवि पंत

काल-सीमा—पंत ने जिस समय काव्य-रचना आरम्भ की थी, उस समय वे हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक कोमल कवि स्वीकार किये गए थे। उनके शब्दों का चयन और उनकी कल्पनाओं की सूक्ष्मता जब भावनाओं की रंगीनी से मिल गई, तब उनके काव्य का सबसे मधुर और कोमल अंश प्रसूत हुआ। 'वीणा' से लेकर 'युगान्त' तक की उनकी कविता यात्रा उनके इसी रूप को स्पष्ट करती है। उनकी इस कविता यात्रा के अनेक पड़ाव हैं। मुख्यतः उन पड़ावों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। पहला वर्ग है बाह्य-सौन्दर्य का, और दूसरा वर्ग है अन्तः-सौन्दर्य का। 'वीणा' से 'पल्लव' तक की यात्रा पहले वर्ग के अन्तर्गत आती है, जब कि 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' और 'युगान्त' का ग्रहण दूसरे वर्ग में होता है। पंत की इस समस्त काव्य रचना को छायावादी कहा जा सकता है। इस समस्त काव्य-रचना का एक आधार वह युग है जिसमें ये रचनाएं लिखी गईं, और दूसरा आधार सौन्दर्य के प्रति कवि का आकर्षण है। दूसरे वर्ग की रचनाएं लिखते हुए पंत यद्यपि दार्शनिक चिंतन के बहाव में अधिक बह गए हैं, तब भी प्रकृति के दृश्यों और मानवीय प्रेम की पकड़ वहां कम नहीं हुई है। भाषा और कल्पना की कोमलता वहां भी पहले जितनी रही है। इन दोनों आधारों को लेकर इस प्रकार की रचनाओं की काल-सीमा को सन् १९३४ तक निश्चित किया जा सकता है।

वैशिष्ट्य—पंत की ये काव्य-कृतियां रंग, नाद, रूप और भावना में अत्यन्त कोमल प्रतीत होती हैं। इन समस्त रचनाओं में पंत के स्वभाव

का लज्जालु रूप एकदम उभर कर सामने आ जाता है। ये कविताए भी उतनी ही लजीली दिखाई देने लगती हैं। इन समस्त रचनाओं में पंत का उत्तरोत्तर विकास दिखाई देता है। यह आश्चर्य की बात है कि वर्तमान युग में हम जिस कवि के प्रकृति-चित्रण की तुलना विश्व साहित्य के अच्छे से अच्छे प्रकृति के चितेरे कवि के चित्रण से करते हैं, उसकी प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी उत्कृष्ट कविताए केवल आरम्भ में ही लिखी गईं। उसके बाद से अब तक प्रकृति ने उसके काव्य को अनेक बार और अनेक रूप में सजाया है; किन्तु उन चित्रों में वह कोमलता और लजीलापन फिर से न आ सका, जो आरम्भ में उनकी विशेषता बनकर सामने आया था।

पंत की छायावाद-युग की समस्त रचनाओं को विषय की दृष्टि से हमने आरम्भ में दो वर्गों में बांटा है। आगे चलकर इन वर्गों के भी अनेक चरण स्वीकार किए जा सकते हैं। हमने अन्यत्र इन दोनों वर्गों को तीन-तीन चरणों में बांटा है। प्रकृति चित्रण अथवा बाह्य सौन्दर्य के प्रति आकर्षण की अवस्था के ये तीन चरण हैं—**प्रकृति का बाह्य रूप, नारी का बाह्य रूप और रूप-भेद से रहित उभयात्मक सौन्दर्य।** इसी प्रकार अन्तः सौन्दर्य के दार्शनिक भाग को भी तीन चरणों में बांटा गया है : **वेदान्ती दृष्टिकोण, साधनात्मक रुचि, और सर्वात्मवादी भावना।** हम यहां प्रत्येक चरण के क्रम से उनके छायावादी काव्य का विश्लेषण करेंगे।

प्रकृति के प्रति बाह्य आकर्षण—इस अवस्था में लिखी गई पंत की रचनाए 'वीणा' नाम से संगृहीत हैं। इसका प्रकाशन सबसे पूर्व हुआ था। इसमें सन् १९१८-१९ तक की रचनाए आ जाती हैं। इस अवस्था में कवि नारी के प्रेम से सर्वथा रहित रहा है। उसकी यह अवस्था सन् '२० में भी कम नहीं हुई है। पर तब उसके हृदय में नारी-प्रेम के प्रति एक आकर्षण भी जगना आरम्भ हो चुका था।

इन पहली रचनाओं में कवि की भावनाओं को स्पष्ट करने वाली

एक रचना 'मोह' प्रतिनिधि रूप में ली जा सकती है। सन् १९१८ की यह कविता कवि के बालक मन को ही स्पष्ट नहीं करती, बल्कि यह भी बताती है कि कवि प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य से इतना अधिक खिंच चुका है कि उसके लिए विश्व का कोई भी बाह्य सौन्दर्य आकर्षण का कारण नहीं बन सकता था। वह किसी भी रूप में प्रकृति से, और प्रकृति के विविध उपादानों से, नाता तोड़कर किसी बाला के प्रति आत्म-समर्पण करने को तैयार नहीं था।

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी नाता,
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को।

कवि की उत्सुकता इस चरण में बहुत अधिक बढ़ी हुई थी। उसकी इस उत्सुकता का सबसे सुन्दर निदर्शन हमें 'प्रथम रश्मि' नामक कविता में मिलता है। इस कविता का पहला प्रभाव हम पर वैसा ही पड़ता है, जैसा प्रसाद के 'आँसू' नामक काव्य का। दोनों में एक सी ही शैली और भावना के दर्शन होते हैं। प्रायः अर्थ करने वाले इस कविता को भी आध्यात्मिक अर्थ में ले जाते हैं।

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ, हे बाल विहंगिनि, पाया तूने यह गाना ?
सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में, पंखों के सुख में छिपकर,
झूम रहे थे, घूम द्वार पर, प्रहरी-से जुगनू नाना।

इन पंक्तियों में किसी भी प्रकार से आध्यात्मिक संकेत नहीं ढूँढा जा सकता। फिर भी खोजने वाले किसी न किसी रूप में दार्शनिक व्याख्या कर ही लेते हैं। उसका एक कारण भी है। इस आरम्भिक अवस्था में ही पंत ने कुछ ऐसे मुहावरे प्रयोग करने शुरू कर दिए थे, जो दर्शन की भाषा के प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ—

निराकार तम मानो सहसा, ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत्-जाल में, धर कर नाम रूप नाना।

नारी आकर्षण—इसके बाद कवि ने भी 'आंसू' और 'आंसू की बालिका' नामक कविताएं लिखीं। इनका प्रसाद के 'आंसू' से सीधा सम्बन्ध तो नहीं है; फिर भी इनमें कुछ है, जो प्रकृति से उन्हें अलग कर देता है। इसीलिए हमने 'ग्रंथि' की इन रचनाओं को नारी-प्रेम के अन्तर्गत स्वीकार किया है। बात यह है कि दोनों ही स्थानों पर सौन्दर्य के प्रति आकर्षण समान है, और बाह्य अथवा ऐन्द्रियक सौन्दर्य पर ही कवि सम्पूर्ण रूप से निछावर है। 'आंसू' और 'उच्छ्वास' की रचना इसी अवस्था के अन्तर्गत हुई है। यहां कवि नारी-प्रेम के प्रति अत्यधिक उन्मुक्त हो उठा है। स्वयं 'ग्रंथि' कविता इस दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यहां पर कवि किसी नारी के प्रेम से विद्ध होकर अपनी मानसिक स्थिरता को खो चुका है। वह प्रकृति के समान ही नारी के चपल सौन्दर्य को भी अपनी भाषा में बांधने का प्रयत्न करता है :

लाज की मादक सुरा सी लालिमा, फैल गालों में, नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की, अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से।

यहां वह नारी-रूप को प्रकृति से भी बड़ा समझना आरम्भ कर देता है। अब उसे वह नारी रूप ही सर्वत्र व्याप्त दिखाई देने लगता है। लगता है जैसे कवि किसी आध्यात्मिक सौन्दर्य से मुग्ध हो चुका हो :

इंदु की छवि में तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में सलिल की वीचि में
एक उत्सुकता विचरती थी सरल,
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में।
निज पलक, मेरी विकलता साथ ही,
अवनि से, उर से, मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से,
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी।

इसी अवस्था में 'आंसू' कविता में कवि अपनी प्रेमिका से दार्शनिक की भांति कह उठता है :

तडित् सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान, प्रभा के पलक मार उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर, मुझे करता है अधिक अधीर।
जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण, खोजते हैं तब तुम्हें निदान।

स्पष्ट है कि यहां प्रकृति का सौन्दर्य कवि को नारी में ही मिलने लगा है।

उभयात्मक सौन्दर्य के प्रति आकर्षण—'पल्लव' कवि की उस अवस्था का द्योतक है, जहाँ वह नारी-रूप के आकर्षण को छोड़कर प्रकृति और नारी दोनों के बीच एक समान सौन्दर्य को खोज लेता है। यहां यह स्मर्तव्य है कि कवि की सौन्दर्य भावना में तनिक भी अन्तर नहीं आया है। इस पर भी उसका आकर्षण किसी एक विशेष पक्ष से नहीं रह गया है सच तो यह है कि यहाँ वह प्रकृति को मानवी के रूप में और मानवी को प्रकृति के रूप में देखने लगा है। उसके लिए नाम और रूप के बन्धन से हीन शुद्ध ऐन्द्रियक सौन्दर्य ही आकर्षण का विषय हो उठा है। 'वीचि-विलास' नामक कविता में यह रूप स्पष्ट देखा जा सकता है :

अंग भंगि में व्योम मरोर, भौंहों में तारा के झोर,
नचा, नाचती हो भरपूर, तुम किरणों की बना हिंडोर।
निज अधरों पर कोमल क्रूर, शशि से दीपित प्रणय कपूर,
चांदी का चुम्बन कर चूर।

यहां मानव के समस्त उपकरण प्रकृति के साथ एकाकार कर दिए गए हैं। दोनों रूपों का एक में मिल जाना ही कवि के लिए एक नयी सौन्दर्य भावना को प्रस्तुत कर देता है। 'शिशु' और 'मौन-निमंत्रण' में कवि इस प्रकार के ऐन्द्रियक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए भी नारी और प्रकृति के बंधन से स्वयं को मुक्त कर लेता है।

खेलती अधरों पर मुसकान, पूर्व सुधि सी अम्लान,
सरल उर की सी मृदु आलाप, अनवगत जिसका गान।
कनक छाया में, जबकि सकाल, खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल, तड़प बन जाते हैं गुंजार,
न जाने, ढुलक ओस में कौन, खींच लेता मेरे दृग मौन!

इस कविता को कुछ आलोचकों ने रहस्यात्मक संकेतों से युक्त मानकर रहस्यवाद की ओर कवि का प्रस्थान-स्थल स्वीकार किया है। सच यह है कि यहाँ कवि निश्चिय ही सर्व-व्यापक सौन्दर्य—सर्वात्मवादी-भावना—से आकृष्ट हुआ है। इसे रहस्य-भावना के दार्शनिक और आध्यात्मिक पहलू से सम्बद्ध कर बैठना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। यहां कवि विश्व के रचयिता के प्रति उत्सुक नहीं हुआ है।

वेदान्ती दृष्टिकोण—हम पहले कवि पर पड़े स्वामी विवेकानन्द और उनके साहित्य के प्रभाव की चर्चा कर आए हैं। कवि ने इस प्रभाव को गलत रूप में लिया या सही रूप में, प्रश्न यह नहीं है। उसने इसे जिस रूप में भी समझा, उसका प्रस्ताव ही 'परिवर्तन' नाम की कविता में किया है। यह कविता बहुत लम्बी है। इसमें कवि ने सारे ही तथाकथित वेदान्ती दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। निश्चय ही यहां कवि प्रकृति के आन्तरिक मोह को छोड़ नहीं पाया है। किन्तु, वह समस्त बाह्य सौन्दर्य को विनाश-शील भी मान बैठा है। उसकी इस भावना पर आपत्ति की जा सकती है। किन्तु, हमें दार्शनिक विवाद से विशेष प्रयोजन यहां नहीं है। कवि यहां जिस भावना को लेकर बढ़ा है, उसमें निराशा और शोक का अंश उपस्थित होने पर भी एक बात स्पष्ट है : वह यह कि कवि में रह रह कर सौन्दर्य के प्रति एक आकर्षण जगता है। उसके वर्णन खुली आंखों से देखे हुए लगते हैं। परन्तु, उसकी चिंतनशील चेतना ने अब स्वयं को प्रकृति से अलग करना आरम्भ कर दिया है। इसलिए उसके विवेचन में एक प्रकार की तटस्थता और अलगाव की वृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। एक ओर वह सौन्दर्य का पूरा विश्लेषण करता है, पर तुरन्त ही उसके मुकाबले में वह विनाश का रूप भी प्रस्तुत कर देता है।

वही मधु ऋतु की गुंजित डाल, झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल, सिहर उठती—जीवन है भार।
अखिल यौवन के रंग उभार, हड्डियों के हिलते कंकाल,

कचों के चिकने, काले श्याल, केंचुली, कांस, सिवार,
गूंजते हैं सब के दिन चार, सभी फिर हाहाकार।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि इस दृष्टिकोण का चाहे कवि पर क्षणिक प्रभाव ही रहा, तो भी उसने जिस दृष्टि को प्रस्तुत किया, वह शंकर के मायावाद और बुद्ध के पलायनवाद से प्रभावित होकर भी प्रकृति के सौन्दर्य की नितांत उपेक्षा न कर सकी। कदाचित् उसे इसके भावी विनाश के अवसाद ने अत्यन्त प्रभावित कर दिया था।

साधना की स्थिति—'गुंजन' में कवि ने दोनों रूपों को अपनाया है। आरम्भ में वह साधना की ओर बढ़ा है, और बाद में वह आत्मा के सार्वत्रिक प्रसार और उसके सौन्दर्य को देखने पर बढ़ गया है। यह बात पहले दार्शनिक दृष्टिकोण से कतई भिन्न हैं। वहां वह निराशा की भावना से अभिभूत था। यहां वह एक नई सौन्दर्य भावना से भर उठा है। यह भावना अन्तःसौन्दर्य के प्रति उसका आकर्षण है। वह जानता है कि प्रकृति सुन्दर है, नर और नारी भी सुन्दर हैं, **किन्तु उन सबसे अधिक सुन्दर है मानव का मन।** 'ज्योत्स्ना' का प्रणयन इन्हीं भावनाओं से हुआ था। 'गुंजन' में ये भावनाएं स्थिर रूप ग्रहण कर गई हैं। आरम्भिक कविताओं में ही कवि सुख दुःख और मन की साधना की बात करने लगता है। वह एक ओर सुख-दुःख में समन्वय चाहता है, और दूसरी ओर मानव मन में व्यष्टि और समष्टि के प्रति एक सी भावना जगाना चाहता है। उसकी अनेक ऐसी कविताएं सामने आती हैं। 'ज्योत्स्ना' की कविताओं को हम परिवर्तित होने वाली भावना की प्रतिनिधि रचनाएं मान सकते है। 'गुंजन' में भारतीय दर्शन का सही रूप अधिक स्पष्ट हुआ है। कवि की इस साधनात्मक भावना को सही रूप में समझने के लिए हमें उसकी निम्न पंक्तियों पर ध्यान देना चाहिए :

मैं नहीं चाहता चिर सुख, मैं नहीं चाहता चिर दुख,
सुख दुख की खेल मिचौनी, खोले जीवन अपना मुख।
···विश्ववेदना में तप प्रतिपल, जग जीवन की ज्वाला में गल,

बन अकलुष, उज्ज्वल, औ कोमल, तप, रे, विधुर-विधुर मन।
···क्या मेरी आत्मा का चिरधन ? मैं रहता नित उन्मन, उन्मन।
···मैं नव नव उर का मधु पी, नित नव ध्वनियों में गाऊँ,
प्राणों के पंख डुबाकर, जीवन मधु में घुल जाऊँ।
···श्रांत, सोती जब संध्या वात, विनव पादप निश्चल, निष्प्राण,
जगाता तू पुलकित कर पात, जगत जीवन का शतमुख गान।

इस प्रकार कवि इस अवस्था में—'गुंजन' के पूर्वार्द्ध तक—मन की साधना के प्रति ही अधिक झुका रहा है। वह आत्मा के विषय में अधिक विचार करने नहीं बढ़ा। किन्तु, अगली कविताओं में आत्मा के विषय में भी वह कुछ अधिक सोचने लगा है।

आत्मिक सौन्दर्य के प्रति झुकाव—साधना के बाद कवि आत्मा के सौन्दर्य को पाने के लिये बढ़ पड़ता है। 'ज्योत्स्ना' में भी इसी प्रकार की भावना के दर्शन हमें होते है। वस्तुतः ज्योत्स्ना है भी आत्मिक प्रकाश की ही प्रतीक। परन्तु 'गुंजन' में 'संध्या तारा' और 'नौका-विहार' दो कविताएं ऐसी है, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'आधुनिक कवि' में कवि ने 'संध्या तारा' को ही 'एक तारा' नाम दे दिया है। यह रचना कुछ अधिक दार्शनिक सी लगने लगती है। इसकी शब्दावली भी कुछ ऐसा ही भ्रम उत्पन्न कर देती है। विशेषकर कवि जब 'रे' के स्वर में बात करता है, तब उसकी तटस्थता और अधिक स्पष्ट हो जाती है। डा० नगेन्द्र ने कवि की इस 'रे' की तटस्थता पर बहुत कुछ लिखा है। कवि इस 'रे' के स्वर से स्वयं को अब तक भी अलग नहीं कर पाया। यही कारण है कि इन कविताओं में आत्मा का जो रूप-दर्शन हुआ है, वह एक तटस्थ दार्शनिक का वर्णन लगता है, न कि किसी कवि का। 'नौका विहार' में भी प्रकृति का अत्यन्त मोहक चित्रण है। परन्तु, उसके अन्तिम पद्य में इतनी अधिक दार्शनिकता छाती दीखती है कि उसका प्रभाव सारी कविता पर पड़ता है। 'एक तारा' में भी यही बात स्पष्ट होती है। उदाहरण के लिए दो पद पर्याप्त रहेंगे :

वह रे अनन्त का मुक्त मौन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन ।।
निष्कम्प-शिखा-सा वह निरुपम, भेदता जगत-जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम ।। (एक तारा)
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व-दान ।। (नौका विहार)

'गुंजन' के अतिरिक्त 'ज्योत्स्ना' और 'युगान्त' की रचना भी कवि ने इसी भाव से की है। पर सत्य यह है कि 'युगान्त' में उसकी छायावादी भावनाओं के अंत की सूचना हमें स्पष्ट मिल जाती है। 'ज्योत्स्ना' में कवि ने आत्मिक सौन्दर्य और अनुराग की अभिव्यक्ति की है। वह जीवन की नित्यता और आनन्द-प्रसार की भावना से अनुप्राणित है।

दल दल में रंग रंग, पल पल में नव उमंग,
कलि कलि में नव विकास, जग चिर जीवन निवास।
...हम एक ज्योति की बहु बूंदें, जग करतल में चू-चू झरते,
...सर्वदेश, सर्वकाल, धर्म, जाति, वर्ण, जाल,
हिल मिल सब हों विशाल, एक हृदय अगणित स्वर।

इस प्रकार कवि ने आत्मा के एक सौन्दर्य को समझ लिया है, और वह सर्वत्र ही इस सौन्दर्य दृष्टि से बढ़ना चाहता है। परन्तु उसकी यह सौन्दर्य दृष्टि 'युगान्त' में एक नया रूप ले लेती है। अब वह अनुभव करने लगता है कि जीवन की यह सब आन्तरिकता तब तक व्यर्थ है, जब तक हम जीवन के बाह्य परिवेश को सम्भाल न लें। दूसरे शब्दों में जब तक मानव-मात्र के सच्चे उद्धार की बात नहीं होती, तब तक प्रकृति, सौन्दर्य अथवा आत्मा के राग व्यर्थ हैं। संस्कृति आत्मा की बात को लेकर चलती है, किन्तु आत्मा-धारी जीवों के प्रति वह उपेक्षा की बात ही सिखाती है। कवि यहां पर जीवन के इस बाह्य रूप को भी सुन्दर बनाने की प्रेरणा देता है :

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर, मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम।
प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें, उपभोग करो प्रतिक्षण नव नव,
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में, यदि बने रह सको तुम मानव ?

इस प्रकार कवि को आपत्ति है तो एक—कि हम अपनी मानवता को भुलाकर अन्य दार्शनिक उलझनों में उलझे रहते हैं। यह बात मानवीय दृष्टि से उसे अनुचित लगती है। इस पर भी कवि 'तुम' के संबोधन को नहीं छोड़ता। स्पष्ट है कि वह स्वयं को औरों से अलग रखकर चलता है। उसकी तटस्थता यहां भी वैसी ही बनी हुई है।

कला पक्ष—इस प्रकार सन् '१८ से सन् '३४ तक कवि पंत की कविता-यात्रा 'छायावाद' के अन्तर्गत ठहरती है। इन दिनों रची जाने वाली कविताओं की भावना केवल सौन्दर्य से ही प्रभावित नहीं रही, बल्कि उसमें व्यापकता और सर्वात्म अनुभूति का भी एक भाव विद्यमान है। कला की दृष्टि से पंत की यह कविता-यात्रा अत्यधिक उपयोगी ठहरती है। हिन्दी साहित्य को पंत से यदि कुछ भी 'सुन्दर' प्राप्त हुआ है, तो वह इस युग में ही। तब से आज तक भावना और कला में पंत की यह सौन्दर्य-दृष्टि समाप्त तो नहीं हुई, पर यह अपने रूप बदलकर सामने आती रही है। छायावादी कविताओं में कवि को किसी प्रकार के रूप बदलने की आवश्यकता नहीं रही। वस्तुतः छायावाद की यह अवस्था सन '३२ में 'ज्योत्स्ना' के साथ ही समाप्त हो जाती है। पर 'युगान्त' की कविताओं में भी कला और भावना की दृष्टि से छायावादी प्रभाव कुछ सीमा तक देखा जा सकता है। वहां पर भी कवि के प्रार्थना, आदेश, तथा प्रकृति के स्वर सुनने को मिल जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि वहां कवि अन्तः सौन्दर्य की अपेक्षा बाह्य परिस्थितियों की ओर अधिक झुका है।

नवीनता—वस्तुतः इस सारी कविता यात्रा में कवि ने कला के नये प्रयोग ही नहीं किए, बल्कि पुराने प्रयोगों को भी उसने नवीनता से बोझिल कर दिया है।—'पल्लविनी' में कवि ने छायावादी काव्य रचना

की सभी चुनी हुई कविताओं का संग्रह कर दिया है। उसकी कविताओं में भाषा अलंकार, छन्द, शब्द-शक्ति, लोकोक्ति आदि का चमत्कार पूरे रूप में देखने को मिल सकता है। पर उस कविता की विशेषता केवल इन बातों में ही नहीं है। उसमें भावना और भाषा, एक दूसरे से, कोमलता और सुन्दरता में होड़ लेती दिखाई देती है।

भाषा—भाषा की कोमलता जानबूझ कर नहीं लाई गई है, और न ही उसका सम्बन्ध **भाषा की सरलता** से किसी भी प्रकार जोड़ा जा सकता है। छंदों का चुनाव एवं कथन की व्यग्रता और पूर्णता ने मिलकर उसके काव्य में एक प्रकार से स्वप्न की सी कोमलता और लजीलापन भर दिया है। कठोर या दग्धाक्षरों का प्रयोग रुका नहीं है। हाँ, उनका प्रयोग आपत्तिहीन रूप में अवश्य हुआ है। संयुक्ताक्षर भी आरम्भ से ही प्रयोग होते रहे हैं। परन्तु उनके कारण भी कोई विशेष कठिनाई नहीं आ पाई है। कारण यही है कि लम्बे लम्बे शब्दों का चुनाव न करके कवि ने छोटे से छोटे किन्तु भावना को पूर्णतम व्यक्त करने वाले शब्दों को चुना है। उसके छन्द मात्रिक हैं। परन्तु छन्दों की लय और सरलता को बचाने के लिए उसमें ह्रस्वमात्रा वाले शब्दों का प्रयोग अधिक किया गया है। इसका अर्थ यह नही कि कवि दीर्घ मात्रा के शब्द ही प्रयोग नहीं करता ? प्रत्युत वह ऐसे शब्दों का प्रयोग करके एक नई चमत्कार-योजना का विधान कर देता है। वह ऐसे शब्द चुनता है, जिसमें यदि एक मात्रा दीर्घ भी हो, तो बाकी वर्ण ह्रस्व मात्रा के हों, ताकि इस प्रकार वह दीर्घ मात्रा के दुष्प्रभाव को बचा सके।

इस दिशा में वह महादेवी से भिन्न दिखाई देता है, पर इस पर भी उसकी कविता का सौन्दर्य अपना ही है। 'गुंजन' तक आते-आते कुछ स्थानों पर उसने शब्दों के चुनाव की यह प्रवृत्ति भी छोड़ दी है। कुछ जगह उसके शब्द अखरने भी लगे हैं। इस पर भी वह अधिकतर कोमलता और सुन्दरता का ही कवि रहा है। आरम्भ से कवि ने भावना की कोमलता के कारण ही अभिव्यक्ति को भी कोमलता प्रदान की है, और

यही बात इस अवस्था के अंत तक चलती रही है।

अलंकार—अलंकारों की दृष्टि से कवि आरम्भ से ही अनेकविध अलंकारों का प्रयोग करता आया है। 'अश्रुकणों का यह उपहार', 'श्रम-जलमय मुक्तालंकार', 'वह नभ जैसा निर्मल है, मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ, माँ!' आदि में कवि उदाहरण उपमा, और रूपक आदि पर बढ़ा ही है। किन्तु उसके विशेष प्रयोग, जो बाद में छायावादी काव्य की विशेषता बन गए, 'मानवीकरण' और 'विशेषण-विपर्यय' के रूप में रहे हैं। 'करुण कुटि', 'मधुर कला', 'तरुण प्रणय', आदि शब्दों में विशेषण-विपर्यय का चमत्कार देखा जा सकता है। 'मानवीकरण' तो छायावाद-काल की सभी रचनाओं में है ही। 'रश्मि', 'बादल', 'निर्झर', 'छाया', आदि में कवि के इसी मानवीकरण का चमत्कार स्पष्ट देखा जा सकता है। इस प्रकार के अन्य सैकड़ों उदाहरण इन रचनाओं में मिलेंगे। दार्शनिक दृष्टिकोण को अपना कर भी कवि कला के इन प्रयोगों से बच नहीं सका। उसने परिवर्त्तन तक को सजीव बना दिया है।

छन्द—छन्दों के विषय में कहा जा चुका है कि कवि को मात्रिक छन्द अधिक पसन्द हैं। परन्तु उसने इस दिशा में भी नये प्रयास किए हैं। उसकी आरम्भिक कविताओं में से कुछ मुक्तछन्द में भी रही हैं। बाद में 'युगान्त' की 'नव-बंधन' कविता में उसने घटती मात्राओं के छन्द का नया प्रयोग किया है। उसके बाद तो इस प्रकार के मिश्र प्रयोग एक आम बात बन गए। पर इस विषय में वह किसी परम्परा अथवा युग का अनुगामी नहीं बना है।

साभिप्राय विशेषण और नाद सौन्दर्य—भाषा की एक विशेषता, आचार्य शुक्ल जी ने, साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग को बताया है। इसके अनुसार विशेषण के द्वारा ही संज्ञा का बोध हो जाता है। यह बोध किन्हीं अंशों में संज्ञा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!' में 'रंगिणि' का प्रयोग, और इसी प्रकार के सैकड़ों अन्य प्रयोग, इस बात को स्पष्ट कर सकते हैं। कवि ने अनेकत्र 'बहुदर्शिनि', 'चारिणि',

आदि का प्रयोग इसी भावना में किया है। साथ ही नाद-सौन्दर्य को तो वह कुछ जगह पर अत्यधिक ले आता है। 'अलि ! कोमल कल-मल तल-मल !', अथवा 'हँस-हँस सिकता से परिहास', आदि में कवि का यह नाद-सौन्दर्य देखा जा सकता है। यह नाद-सौन्दर्य 'युगान्त' तक की सभी रचनाओं में समान रूप से पाया जा सकता है। 'परिवर्त्तन' रचना सर्वाधिक कठोर कही जा सकती है; पर उसमें भी कवि का यह अनुप्रास-बाहुल्य देखा ही जा सकता है।

रंग-चेतना—कवि की शैली का विवेचन करते हुए दो सत्य और ध्यान रखने चाहिएं। मानवीकरण तो उसके काव्य की विशेषता बन ही गई है परन्तु उसकी शैली की इन दोनों विशेषताओं ने उसे अन्य छायावादी कवियों से पर्याप्त अलग स्थान दे दिया है। प्रथम विशेषता है कवि की **रंग-चेतना**। प्रसाद और महादेवी का नाम भी इस विषय में आदर के साथ लिया जा सकता है। किन्तु, पन्त उनसे भी आगे बढ़ गए हैं। आंग्ल कवियों की रंग-चेतना अत्यधिक प्रसिद्ध है। कवि पर उनका प्रभाव पड़ा, या उसने अपने चारों ओर की पर्वतीय प्रकृति में से ही इन विविधताओं का चुनाव किया, ठीक से नहीं कहा जा सकता। फिर भी, यह तो सत्य है कि इसी कवि ने ही हिन्दी साहित्य को ऐसी सूक्ष्म रंग-चेतना दी है। महादेवी जहां इस प्रकार के रंगों को किसी विशेष दृष्टि के प्रतिनिधि मान कर प्रयोग करती हैं, वहां पंत उन्हें केवल प्रकृति के आवश्यक उपादान मानकर प्रयोग करते हैं। यह अंतर 'बादल' अथवा 'पावस' आदि के वर्णन में स्पष्टतः देखा जा सकता है।

तटस्थ अभिव्यक्ति और नारी चेतना—कवि की शैली की दूसरी विशेषता तीन भागों में बांटी जा सकती है। इसका सम्बन्ध उसकी अभिव्यक्ति-चेतना से जोड़ा जा सकता है। **प्रथम** हम 'मैं शैली' को ले सकते हैं। कवि ने इसका प्रयोग महादेवी अथवा निराला की अपेक्षा कुछ कम ही किया है। फिर भी बहुत सी कविताओं में इस शैली का प्रयोग हुआ है। इसका कारण विषय अथवा वस्तु से कवि का सीधा

अपना सम्बन्ध हो सकता है।

उसकी शैली का दूसरा रूप 'तू' अथवा 'रे' के रूप में कहा जा सकता है। 'आधुनिक 'कवि' की भूमिका में कवि इस बात को स्पष्ट करता है कि उसके ये प्रयोग अपने व्यक्तिवाद एवं वैयक्तिक तटस्थता के कारण आए हैं। वह स्वयं को विश्व से अलग मानकर चलता है।

उसकी शैली की **तीसरी** विशेषता है, स्वयं को नारी रूप में प्रस्तुत करना। उसने अनेक स्थानों पर स्वयं को स्त्री मानकर अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। उसकी यह भावना भक्तों की भावना से बिल्कुल नहीं मिलती, क्योंकि इसमें आध्यात्मिक सम्बन्ध को किसी भी रूप में नहीं खोजा जा सकता।

निष्कर्ष—इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पन्त का छायावादी काव्य कला, शैली, भावना और विचार-तत्व की दृष्टि से सर्वथा मौलिक और उनकी अपनी निधि है। उन्होंने दूसरों के बनाए मार्ग का अनुसरण न करके स्वयं ही अपनी दिशा चुनी है। कहीं-कहीं उन्होंने आंग्ल प्रभाव में आकर अंग्रेज़ी मुहावरों अथवा लोकोक्तियों का प्रयोग कर दिया है। परन्तु, इससे उनके काव्य की विशेषता किसी भी रूप में कम नहीं होती। उन का काव्य हिन्दी के गौरव का कारण रहा है।

७

पन्त का छायावादी दर्शन

'परिवर्त्तन' का महत्त्व—'पल्लव' की 'परिवर्त्तन' कविता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस कविता का स्थान पन्त के काव्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस कविता से कवि के काव्य-जीवन का एक नया मोड़ सूचित होता है। कवि ने स्वयं इस कविता को स्वामी विवेकानन्द के दर्शन के अध्ययन के प्रभाव का परिणाम माना है। कवि इस विषय में भले ही कुछ कहे, हम यह स्पष्ट कर आए हैं कि यह कविता स्वामी विवेकानन्द की भावना के अनुकूल नहीं है। हमने पहले ही इस बात का विश्लेषण किया है कि इस कविता में कवि पर अधिक प्रभाव शंकर के दर्शन का रहा है, न कि विवेकानन्द के कर्मयोगमय दर्शन का। शंकर संसार को माया और मिथ्या मानकर उसे नश्वर और असार कह देते हैं। यही बात पंत ने भी की है। पंत की विशेषता यही है कि वे बुद्धिवादी हैं। किन्तु आज के बुद्धिवाद का परिणाम विज्ञान की प्रगति के रूप में हमें जो कुछ मिला है, वे उससे भी भलीभाँति परिचित हैं। इसीलिए जब वे शंकर की दलीलों को प्रस्तुत करते हैं, तब उन पर वैज्ञानिकता का आरोप भी कर देते हैं। परन्तु उसके साथ ही उनकी उक्तियां सामान्य जन-स्तर पर होकर भी बढ़ी हैं।

इस दृष्टि का सत्य—पर विवेकानन्द के ग्रंथों के अध्ययन का एक परिणाम यह भी हुआ कि कवि ने भारतीय-दर्शनों की पद्धति पर भी विचार करना प्रारम्भ कर दिया। उसने इस दर्शनों का अधिकाधिक अध्ययन किया। यह सौभाग्य की ही बात है कि कवि सभी दर्शनों की व्याख्या क्रम से करने नहीं बैठा, और उसने केवल उनका सारमात्र ही ग्रहण किया। अन्यथा यदि कहीं कवि इस प्रकार की भावना में उलझ

जाता और प्रत्येक दर्शन की एक नई व्याख्या देने लगता तो उसका काव्य निरा बुद्धिवादी काव्य रह जाता। कवि ने अपने इस युग के काव्य में जो कुछ भी लिखा है, उसमें भारतीय दर्शन की भावना का सम्पूर्ण निचोड़ आ जाता है। यहाँ तक कि अनात्मवादी बौद्ध दर्शन के सूत्र भी—वेदना-परक प्रभावों के रूप में—उसके काव्य मे खोजे जा सकते हैं। 'पल्लव' की 'परिवर्त्तन' कविता, इस दृष्टि से, केवल एक परिवर्तनमान स्थिति की ही सूचना देती है। यहाँ कवि अपनी पुरानी दृष्टि के प्रति स्वयं को अपराधी समझता है। वह जानता है कि उसने अब तक जिस रूप में भी प्रगति की है एवं प्रकृति के चित्रों को देखा है, वे सब एकांगी थे। वास्तव में तो सौन्दर्य—चाहे वह प्राकृतिक हो या मानवी—नश्वर ही है। इसलिये कवि सौन्दर्य की अपेक्षा स्थायी सत्य को खोजने के लिए बढ़ पड़ता है। कवि की यह सत्य दृष्टि ही संसार को असार और झूठा कहने का कारण बनी है।

इस भावना से अन्तर—अगले दो काव्य 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' जिस भावना को लेकर चले हैं, वह 'परिवर्त्तन' की भावना से एकदम भिन्न है। उनमें कवि एक नई दृष्टि को खोज लेता है। वह यह स्वीकार करता है कि जिस चेतना को खोजना मानव का लक्ष्य है, उसे मानव के अपने जीवन में से ही पाया जा सकता है। यह दृष्टि 'अरविन्द-दर्शन' से भी प्रभावित दिखाई देती है। पर उस समय तक कवि अरविन्द अथवा उनके दर्शन के सम्पर्क में नहीं आया था। उसने जो कुछ भी लिखा, उस पर गीता और अन्य भारतीय दर्शनों का अधिक प्रभाव था।

युगान्त : नया चरण—इस अवस्था का एक अन्य चरण 'युगान्त' भी ठहरता है। यहाँ कवि आत्मा और उसके सौन्दर्य की बात न करके एक अन्य ही सौन्दर्य पर बढ़ जाता है। यह बात समझाते हुए कवि हमें बताता है कि उसे भारतीय दर्शनों और संस्कृति में कुछ अधूरापन नज़र आने लगा है। इसीलिए उसने उस प्रकार के स्वप्नों को छोड़कर एक

नया सत्य वर्णन करना आरम्भ किया। यहां यह मानव के आरम्भिक सौन्दर्य को, और उसके मन और आत्मा के उत्थान को, तब तक निरर्थक समझता है, जब तक कि उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति उन्नत न कर दी जाये। वह देखता है कि मानव की आत्मा का राग गाने के बाद भी कुछ ऐसी बात रह जाती है, जिससे मानव का जीवन नितान्त उपेक्षित और दलित सा दिखाई देता है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर अत्याचार करे और उसके श्रम का सारा लाभ स्वयं ही खा जाए, और हम फिर भी उसके आत्मिक उत्थान और समानता की बातें करते रहें, यह अन्याय और असत्य नहीं तो और क्या है? मनुष्य को केवल आत्मा के आधार पर ही समान घोषित नहीं किया जा सकता। बल्कि, उसके लिए भौतिक परिस्थितियां भी समान होनी आवश्यक हैं।

कवि की यह भावना समाजवाद से प्रभावित मानी जा सकती है। पर, सत्य यह है कि इस प्रकार की भावना को समाजवाद के बिना भी उचित ठहराया जा सकता है। कवि ने भौतिकवाद और वैज्ञानिक प्रगति का अध्ययन और विश्लेषण कार्ल मार्क्स के आधार पर तब करना शुरू किया, जब उसे यह प्रतीत हुआ कि भारतीय अथवा अन्य कोई भी संस्कृति मानव के मूल्यों के विषयों में विचार न करके उसकी आत्मा और मन की ही बात करती जाती है। यह बात उसे उचित न जंची, क्योंकि उसकी दृष्टि में अन्तः और बाह्य में यह अन्तर किसी भी प्रकार न्यायोचित और संगत नहीं ठहराया जा सकता था। इसलिए उसने अपने इस काव्य में मानव के भौतिक सौन्दर्य और सामाजिक अनुराग को देखने और परखने की आवश्यकता पर बल दिया। कवि-जीवन में इसका अत्यधिक महत्त्व है।

तीन चरण—इस प्रकार हम पंत के इस दार्शनिक दृष्टिकोण को तीन चरणों में बंटा हुआ पाते हैं। भारतीय संस्कृति के आधार-भूत तत्वों की व्याख्या करने के कारण इसे हम कवि का 'सांस्कृतिक दर्शन' भी कह सकते हैं। वास्तव में सांस्कृतिक दृष्टि ही मानव की आत्मा और मन

की बात अधिक करती है। भारतीय संस्कृति अन्तर्मुखी वृत्ति की रही है। इसीलिए उसमें सदा ही मानव के बाह्य अथवा भौतिक परिवेश की उपेक्षा की जाती रही है। अतः सांस्कृतिक दृष्टि और उसके प्रति आलोचनात्मक दृष्टि को अलग-अलग चरणों में न रखकर एक में भी रखा जा सकता है, और उन्हें अलग-अलग भी स्वीकार किया जा सकता है। सुविधा के लिए हम 'युगान्त' की आलोचनात्मक रचनाओं को प्रगतिवाद की विवेचना के प्रसंग में लेना ही उचित समझेंगे। यहां हम संक्षेप में इन तीन चरणों पर ही विचार करेंगे। ये तीन चरण हैं:

१—वेदान्ती-दृष्टिकोण से प्रभावित **प्रथम चरण**, जिसमें कवि संसार के प्रति असारता की दृष्टि को ले बैठता है।

२—मन की साधना की अवस्था का **द्वितीय चरण**, जिसमें वह व्यक्ति को अपने और संसार के बीच भेद कम करने को कहता है, और उसे साधनामय होकर अपने जीवन को अधिकाधिक व्यापक और विश्व से सम-अनुभूतिमय बनाने को कहता है।

३—आत्मा की सर्वत्र व्यापकता और सम-अनुभूति की अवस्था का **तृतीय चरण**, जिसमें कवि सर्वत्र ही एक तत्त्व और सौन्दर्य की अनुभूति को व्याप्त पा लेता है। उसके लिए जड़ और चेतन में एक ही तत्त्व समाया सा दीखता है। मानो वे एक दूसरे की व्याख्या करने वाले हों।

प्रथम चरण—कहा जा चुका है कि इस चरण को **वेदान्ती दृष्टिकोण का चरण** भी कहा जा सकता है। इसके प्रभाव में रहते हुए कवि ने जो कुछ भी लिखा वह निराशा की भावना से भरा हुआ प्रतीत होता है; यद्यपि कवि उसे प्रस्तुत करते हुए चलता इसी ढंग से है, जैसे दर्शन के युक्तिक्रम से किसी सत्य को सिद्ध कर रहा हो। हम यह भी स्पष्ट कर आए हैं कि इस दृष्टिकोण में कवि वेदान्त की उस व्याख्या से अधिक प्रभावित है जिसे शंकर ने प्रचारित किया, न कि उस विचारधारा से जिसे स्वामी विवेकानन्द ने प्रस्तुत किया। 'परिवर्त्तन' स्वतः एक लम्बी कविता है। इसमें एक ओर कवि अपने अबतक के दर्शन पर उपहास की दृष्टि डालता है और,

दूसरी ओर, वह संसार की असारता को बताकर एक वैज्ञानिक सत्य को खोजने का प्रयास करता है। इस वैज्ञानिक सत्य को ही उसने 'परिवर्त्तन' मान लिया है। यह कविता स्वयं में किसी विशेष दृष्टिकोण का अनुकरण मात्र नहीं है, और न ही इसमें कवित्वहीन कोरा युक्तिक्रम है। इसकी भाषा और इसकी शैली स्पष्ट कर देती है कि इसमें कवित्व के साथ-साथ दार्शनिकता भी प्रबल रूप में सामने आई है। इस दार्शनिकता ने कवित्व की मात्रा पर प्रभाव डाला है। कवि प्रत्येक पंक्ति में प्रकृति के सौन्दर्य को खुले हृदय से लेना चाहता है, किन्तु अगली ही पंक्ति में उसकी बौद्धिकता सजग होकर उसकी आँखों को ढक लेती है। प्रकृति का वह सुनहरा रूप दीखना बंद होकर, उसकी आँखें जैसे विनाश के खुले रूप के परिचय में आ जाती हैं। प्रथम पद्य में ही कवि हमें भूतकालिक क्रिया में प्रकृति के उस सौन्दर्यमय रूप का परिचय देता है, और द्वितीय पद्य की प्रथम पंक्ति में ही उसे 'हाय ! सब मिथ्या बात' कहकर विनश्वर कह डालता है। यहीं उसकी वह शैली सामने आ जाती है, जिसमें वह एक साथ ही प्रकृति के दोनों चित्रों को प्रस्तुत करता है।

आज तो सौरभ का मधुमास, शिशिर में भरता सूनी साँस।
अखिल यौवन के रंग उभार, हड्डियों के हिलते कंकाल।
आज बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात,
चार दिन सुखद चाँदनी रात, और फिर अन्धकार अज्ञात।

इन पद्यों में कवि की खुली दृष्टि और खुले तर्क का मिला-जुला रूप सामने आता है। यहाँ कवि स्पष्ट रूप से निराशावादी होकर जैसे जीवन के सब सुख-स्पर्शों से उपराम हो जाना चाहता है।

शून्य साँसों का विधुर वियोग, छुड़ाता अधर मधुर संयोग,
मिलन के पल केवल दो-चार, विरह के कल्प अपार।
अरे, वे अपलक चार नयन, आठ आँसू रोते निरुपाय,
उठे रोओं के आलिंगन, कसक उठते काँटों से हाय।

फिर हम कवि का दार्शनिक और तटस्थ रूप पाते हैं, जहाँ कवि

विश्व के विविध रंगों को एक दूसरे से उलझता हुआ अनुभव करता है, और अन्ततः एक परिणाम पर पहुंच जाता है :

खोलता इधर जन्म लोचन, मूंदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण,
अभी उत्सव औ हास विलास, अभी अवसाद, अश्रु, उच्छ्वास।

यहां से कवि 'परिवर्त्तन' को ही सम्बोधन करके कहने लगता है, और उसे मानव-रूप मानकर संसार के विनाश का एकमात्र कारण स्वीकार करता है। कहीं वह उसे विश्वजयी राजा और कहीं किसी और रूप में चित्रित करता है। आगे चलकर वह 'परिवर्त्तन' के ताण्डव को अधिक स्पष्ट करता है। 'परिवर्त्तन' विश्व के सम्पूर्ण विनाश का कारण है। परन्तु कवि उसके वैज्ञानिक रूप पर अधिक न बढ़कर दार्शनिक रूप को ही अधिक देखता है। उसकी दृष्टि में :

नित्य का यह अनित्य नर्तन, विवर्तन जग, जग व्यावर्तन,
अचिर में चिर का अन्वेषण, विश्व का तत्त्वपूर्ण दर्शन,
अतल से एक अकूल उमंग, सृष्टि की उठती तरल तरंग,
उमड़ शत-शत बुद्बुद् संसार, बूड़ जाते निस्सार।

इसी दार्शनिक बात को निराला ने भी 'पंचवटी-प्रसंग' में राम के मुख से कहलवाया है। किन्तु वहां दार्शनिकता का ऐसा आरोप नहीं दिखाई देता। आगे चलकर कवि प्रसाद की भांति 'एक तत्त्व की ही प्रधानता' की बात को कहता है। पर, दोनों के कहने में महान् अन्तर है :

एक छवि के असंख्य उडुगण, एक ही सब में स्पंदन,
एक छवि के विभात में लीन, एक विधि के, रे, नित्य अधीन।

इस प्रकार कवि अपने दार्शनिक-रूप को यहां अधिक स्पष्ट करता है, कवि-रूप को नहीं। उसका यह दर्शन जहां एक ओर निराशा पर आधारित है, वहां दूसरी ओर उसमें तर्क और चेतना की नवीनता भी है :

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप, लोक सेवा में शिव अविकार।

इस सब सत्य को पहचानकर कवि फिर से शास्त्रीय तर्क में उलझ

जाता है। वह कर्म और फल की विवेचना एक धागे के उदाहरण से करने लगता है। फिर वह कामना, सुख-दुख और ज्ञान आदि की चर्चा करने लगता है। उसकी कवि-दृष्टि इन तर्कों में भी जग पड़ी है।

तरसते हैं हम आठों याम, इसी से सुख अति सरस प्रकाम,
अलभ है इष्ट, अतः अनमोल, साधना ही जीवन का मोल।

इसके बाद कवि हर प्रकार के परिवर्तमान रूप का एकमात्र कारण परिवर्तन को ही बताता है। यहां वह पूर्णरूप से निराशावादी और तटस्थ हो जाता है। वह ईश्वर का स्थान इस **परिवर्त्तन** को ही दे बैठता है।

तुम्हारा ही अशेष व्यापार, हमारा भ्रम, मिथ्याहंकार,
तुम्हीं में निराकार-साकार, मृत्यु-जीवन सब एकाकार।

कवि उसे 'अनंत' तक कह उठता है।

इस सम्पूर्ण कविता में हमें कवित्व, दार्शनिकता और शास्त्रीयता के मिले-जुले दर्शन होते हैं। एक ओर कवि का सम्पूर्ण कलाओं से युक्त सरल प्रवाह देखने को मिलता है, दूसरी ओर वह कठिनतम तर्क-जाल में उलझा हुआ दिखाई देता है। उसके निरीक्षण में सामान्य जीवन की बातें न आकर दार्शनिक युक्तिक्रम ही अधिक आया है। इसी कारण कठिन समास, अनुचित ध्वनिप्रयोग, और अनिच्छित शब्द-प्रयोग देखने को मिलते हैं। अनेक पदों में कवि जैसे दार्शनिक शब्दावली का अनुवाद करने में ही जुट गया है।

द्वितीय चरण—कवि इस द्वितीय चरण में आकर साधना का कवि बन उठता है। वह 'गीत-खग' नामक कविता में स्पष्ट कर देता है कि जीवन के सत्यों से रहित शास्त्रीय ज्ञान निरर्थक है। जो कवि अपने चारों ओर के जीवन से एकता स्थापित नहीं कर सका, और जिसने अपने अतिरिक्त संसार के सुख-दुख को जाना नहीं, उसका जीवन किसी अस-फल साधक के जीवन की भाँति ही निरर्थक हो जाता है। उसे सृष्टि और जीवन के विस्तार से स्वयं को एकाकार अनुभव करना ही चाहिए :

छोड़ पंखों की शून्य उड़ान, वन्य खग-विजन नीड़ के गान।
आज छाया वन-वन मधुमास, मुग्ध मुकुलों में गंधोच्छ्वास,
लुढ़कता तृण में उल्लास, डोलता पुलकाकुल वातास,
फूटता नभ में स्वर्ण विहान, आज मेरे प्राणों में गान।

कवि यहां अपने अलगाव और अपनी तटस्थता को स्वीकार कर लेता है। पर साथ ही वह यह भी मान लेता है कि वह भ्रामक पथ था।

मुझे न अपना ध्यान, कभी, रे, रहा न जग का ज्ञान।
गान ही में, रे, मेरे प्राण, अखिल प्राणों में मेरे गान।

इस भावना को लेकर ही कवि ने 'गुंजन' का आरम्भ किया। वह 'सुख-दुःख' और 'तप रे' कविताओं में साधना के जीवन का अपनाने के लिए ही अपने मन को प्रेरणा देता है। आगे चलकर 'उर की डाली' कविता में भी वह विश्व के साथ अपनी एकाकारिता को घोषित करता है। यह बात अन्य कविताओं में भी आती है। परन्तु, इसके साथ ही यह बात भी सामने आती है कि कवि जीवन में एक सम-दृष्टि को खोजना चाहता है। सुख और दुःख के बाहरी विश्वासों में उलझ कर हम विश्व के समान धरातल को नहीं खोज पाते। हम उसे तभी खोज सकते हैं, यदि हम उन दोनों की उलझन से ऊपर उठकर अपनी आत्मा और मन की सही स्थिति को ठीक ढंग से पहचान सकें। इसके लिए कवि को जीवन के सही विश्लेषण करने और मानव के सभी रूपों से निकट परिचय पाने की आवश्यकता है। वह मानवों को ही धरती के तारे और संसार का वसंत समझ लेता है, और अपने मनःरूपी भ्रमर को इस मानव-समाज-रूपी उद्यान में अभीष्ट मधु को चुनने के लिए कहता है :

पृथ्वी की प्रिय तारावलि, जग के वसंत के वैभव,
तुम सहज सत्य सुन्दर हो, चिर-आदि और चिर-अभिनव,
मैं नव नव उर का मधु पी, नित नव ध्वनियों में गाऊं,
प्राणों के पंख डुबा कर, जीवन-मधु में घुल जाऊं।

इस चरण में कवि साधना का कवि बनकर रह गया है। वह फिर

से अपने कोमल-मधुर रूप पर भी लौट आया है। उसकी कला भी किसी प्रकार शिथिल नहीं हुई है। उसकी भाषा, अलंकार, और शैलियों का चमत्कार पहले जैसा ही बन गया है। इस भूमिका पर ही कवि विचार की अगली अवस्था में पहुँचता है।

तृतीय चरण—'गुंजन' की 'संध्या-तारा' और 'नौका-विहार' नामक कविताओं में कवि आत्मा की समानता, जीवन की अनन्तता, और मानव के बाहरी परिवेश के भीतर छिपी उसकी आन्तरिक एकता को पहचान लेता है। इन दोनों ही कविताओं में केवल दो चार पंक्तियां ही दार्शनिकता से बोझिल कही जा सकती हैं। शेष सब स्थानों पर कवि का प्रकृति-चित्रण और दूसरी विशेषताएं प्रत्यक्ष होती रही हैं। सच तो यह है कि इन दोनों ही कविताओं में वातावरण निर्माण की दृष्टि से कवि को जो सफलता मिली है, वैसी सफलता हिन्दी साहित्य में कम ही स्थानों पर देखी जाती है। 'कामायनी' के प्रसंगों में प्रसाद ने भी इसी प्रकार के कुछ वर्णन हमें दिए हैं। परन्तु वे व्यापकता और विस्तार में उतने पूर्ण नहीं हैं। यह बात आगे चलकर और भी स्पष्ट हो जाती है। 'चांदनी और 'अप्सरा' आदि कविताओं में कवि ने यही भावना लेकर प्रकृति का जो रूप दिखाया है, वह निश्चय ही उसके पुराने रूप की याद दिला देने वाला है। अन्तर यही है कि कवि के सम्मुख पहले कोई दार्शनिक विचार-धारा नहीं थी, और इस समय तक वह एक निश्चित दार्शनिक सत्य को पा चुका है।

'ज्योत्स्ना' में भी आत्मा की दिव्यता और अलौकिकता की यह बात ही देखने को मिलती है। कवि वहाँ अत्यन्त सजग होकर, प्रतीकात्मक पात्रों के द्वारा, अपने इसी जीवन दर्शन को व्यक्त करता है। विशेषता यह है कि उसमें आने वाले गीत अत्यंत छोटे हैं। पर, उनमें 'नौका-विहार' के सत्य को ही प्रमुख रूप में घोषित किया गया है।

कला की दृष्टि से भी यह तृतीय चरण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें कवि ने अत्यन्त सरस और कोमल शब्दावली का प्रयोग किया है।

केवल कुछ एक स्थानों पर ही कवि ने कठोर और तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। अन्यथा शेष सभी स्थानों पर वह संगीत कल्पना और कला की दृष्टि से सरलता, सुन्दरता, कोमलता, और मधुरता का एकत्र समन्वय करने में समर्थ हुआ है। कवि की यह स्थिति सन् '३२ तक कायम रहती है। 'युगान्त' में उसे एक नयी दृष्टि मिल जाती है।

नया मोड़—यह दृष्टि स्वयं प्रगतिवादी नहीं कही जा सकती, पर फिर भी इसमें बहुत कुछ ऐसा है, जो इस सीमा के निकट जा बैठता है। अधिकांश पद्यों में कवि ने अपनी पुरानी धारणाओं पर खेद प्रगट किया है, और वह नये पथ का राही बनने के लिए उत्सुक रहा है। उसकी दृष्टि में संस्कृति के मूल्य, जो मानव जीवन को सही रूप में नहीं आंकते त्याज्य ठहरते हैं। अब वह चांदनी, कोकिल, वसंत, मानव, आदि से इस नये युग की भावना जगाने की प्रार्थना करता है। अतः स्पष्ट है कि यह चरण पूर्वोक्त चरण में गृहीत नहीं हो सकता। इसे कवि के दार्शनिक दृष्टिकोण के चतुर्थ चरण के रूप में भी गृहीत नहीं किया जा सकता।

अन्तर—कारण यह है कि ये तीनों चरण दार्शनिक होकर भी अन्ततः भारतीय संस्कृति के सदियों पुराने मूल्यों के उद्घोषक ठहरते हैं। इनके वर्णन और विचार के समय कवि अपनी पुरानी परम्परा के प्रति आदरवान् अधिक रहा है। किन्तु, बाद की स्थिति में आकर वह इन्हीं मूल्यों का विरोध करने लगता है। उसकी दृष्टि में संस्कृति ने इन सत्यों पर बल देकर मानवता के दुःखों और कष्टों की अवहेलना की है। इस दृष्टि से उसे क्षन्तव्य नहीं कहा जा सकता। जब तक मानव का बाहरी परिवेश विकृत है, तब तक उसकी आत्मा और मन की उन्नति निरर्थक है।

इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टिकोण या दार्शनिक दृष्टिकोण पंत के कवि-जीवन में एक विशेष महत्त्व रखता है। अन्यत्र हम देखेंगे कि इस अवस्था के तृतीय चरण में और अरविन्द दर्शन में एक अद्भुत समानता है, जिसे प्रायः आलोचक देखने से रह जाते हैं। इस दशा के तृतीय चरण का अध्ययन उक्त तथ्यों के प्रकाश में ही किया जाना चाहिए।

पन्त और प्रगतिवाद

प्रवेश—सन् १९३४ के आस पास भारतीय राजनीति और साहित्य में एक साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद और प्रगतिवाद के नारे उठने लगे। इस वर्ष लन्दन में विश्वभर के प्रगतिशील लेखकों की एक कान्फ्रेंस हुई। उसके एक वर्ष बाद ही भारत में भी अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखकों का एक सम्मेलन हुआ। संसार में लेखकों का कोई आन्दोलन एक गुटबंदी के रूप में शुरू हुआ हो, यह ऐसा पहला ही मौका था। पर कभी-कभी युग की हवा ऐसे रूप में भी बहने लगती है। भारत के कम ही ऐसे लेखक, विशेषतः हिन्दी और उर्दू के लेखक, बच सके, जिन्होंने इस आन्दोलन को न अपना लिया हो। अधपकी उमर और अधूरे अनुभव को लेकर चलने वाले लेखक जोश के साथ नारे लगाते हुए उठे। परन्तु, उनका साथ दिया अनुभवी और समृद्ध लेखकों ने। 'पंत' इन्हीं अनुभवी लेखकों और कवियों में से एक थे।

साथियों से अन्तर—'पंत' से भी पहले 'निराला' इस दिशा में साहित्य का द्वार खोल चुके थे। छायावादी रचनाएं लिखते हुए ही निराला ने 'दीन', 'भिक्षुक', 'विधवा', 'बादल राग', आदि अनेक ऐसी रचनाएं लिखीं थी, जिन्हें बहुत सरलता के साथ प्रगतिवादी रचना घोषित किया जा सकता था। इन रचनाओं में सबसे बड़ा अन्तर यह था कि इनकी कला छायावादी ढंग की ही थी, यद्यपि भावना इनमें प्रगतिवादी ढंग की रही। महादेवी का विश्वास कुछ और ही था। उन्होंने पीड़ा के प्रति जो सहानुभूति दिखाई, उसमें उन्हें प्रगतिवादी भावना की संभावना कम ही दिखाई दी।

पंत के लिए यह सब बात बिल्कुल नई थी। वे अब तक एक ऐसी

दुनिया की बात, एक ऐसे ढंग से, करते आए थे कि उनके लिए मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं और उसके आधार पर उसकी समानता आदि की बात करना बहुत अजीब सा लगता था। इसीलिए जब पंत ने पहले-पहल ऐसी कविताएं लिखीं, तो उन्हें स्वयं ही अपना सब कुछ अजीब सा लगा। शुरू से ही तटस्थ और बौद्धिक प्रवृत्ति के होने के कारण उन्होंने, इस चरण में भी, जन-जीवन के प्रति दृष्टि को अधिक खुला और उदार न बनाकर दार्शनिकता से बोझिल ही बना दिया। उनके अनेक वचन दर्शन के युक्तिक्रम से लदे हुए दिखाई देते हैं। हां, इस काव्य में भी अनेक सुन्दर स्थल अवश्य है। शायद, यह कहना अधिक उचित होगा कि ऐसे सुन्दर स्थल ही अधिक रोचक हैं। पर, इस पर भी यह सत्य है कि दार्शनिकता से बोझिल स्थल जितने भी हैं, उन्होंने ही पाठक-मन पर एक प्रकार का भय सा बिठा दिया है। इस बात को ध्यान में रख कर ही हमें आगे बढ़ना उचित है।

पूर्ण विस्तार—इस दशा का आरम्भ पंत की 'युगान्त' नामक रचना से होता है, और 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में भी इसका ही उद्‌घोष है। इन तीनों रचनाओं को क्रमशः हम तीन चरणों के रूप में ले सकते हैं। इस सम्पूर्ण दशा में कवि ने जो प्रगति की है, उसका विश्लेषण इन तीन चरणों के आधार पर करने से ही हम उसकी सामर्थ्य और अभिव्यक्ति का पूरा अनुमान कर सकेंगे।

प्रथम चरण—यह बात कही जा चुकी है कि 'युगान्त' कवि की प्रगतिवादी कविता का प्रथम चरण ठहरता है। इस रचना में कवि ने अपनी पुरानी सांस्कृतिक दृष्टि पर अविश्वास प्रकट किया है। वह नये दृष्टिकोण से हर बात पर विचार करना चाहता है। अब तक संस्कृति के जिन मूल्यों को उसने समझा था, अब वह उन्हें अविश्वास की दृष्टि से देखने लगा है। उसकी दृष्टि में पुरानी संस्कृति हमारी जड़ता और दासता का प्रतीकमात्र रह जाती है। यह बात हम भली प्रकार कह आये हैं। 'मानव' कविता में कह उठता है :

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर, मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम !

परन्तु वह एकदम भौतिकवादी नहीं बन उठा है । उसके सामने चरित्र और आदर्शों का भी कुछ मूल्य स्थिर रहता है । वह कहता है :

क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में, यदि बने रह सको, तुम मानव !

'सृष्टि' कविता में वह सम्पूर्ण सृष्टि के बीज के रूप में एक दार्शनिक सत्य को खोज निकालता है । दर्शन जिसे 'एक तत्त्व' कहता है, उसे ही वह 'सृष्टि का बीज' कहकर एक नया रूप दे बैठता है । यह एक तत्त्व अब उसके लिए 'परमात्मा' नहीं है, बल्कि यह है 'अमर पुत्र मानव ।' यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि कवि स्वयं अपने इस परिवर्तन की व्याख्या में कहता है कि 'मैंने विज्ञान और अध्यात्म में एकता का सूत्र खोज लिया है ।' उसका यह कथन 'युगान्त' पर ही सही रूप में घटता है । अन्यत्र यह बात इस रूप में लागू नहीं होती । वह कहता है :

संसार एक, आश्चर्य एक वह एक बूँद सागर अपार ।
उसमें अनंत का है निवास, वह जग-जीवन से ओतप्रोत ।
मिट्टी का गहरा अंधकार, सोया है उसमें एक बीज,
उसका प्रकाश उसके भीतर, वह अमर पुत्र ! वह तुच्छ चीज ।

बापू : पुनरुद्धार—सत्य यह है कि 'युगान्त' में कवि ने अपनी दृष्टि को एकदम नहीं बदला है । अर्थात्, वह भौतिकवादी दर्शन को अपनाने और उसकी व्याख्या करने में लग नहीं गया है । इसके विपरीत उसने अपनी पुरानी दृष्टि में जो त्रुटि पाई है, उसका ही संस्कार करने में वह 'युगान्त' में प्रवृत्त हुआ है । कह सकते हैं कि उसका युक्तिजाल पहले जैसा ही रहा है । केवल उसमें अध्यात्म के स्थान पर मानव की भौतिक आवश्यकताएं और अन्य भौतिक सत्य उभर कर सामने आ गए हैं । इसकी 'बापू' कविता स्वयं इस सारे दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देती है । आरम्भिक कविता '**द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र**' में कवि ने जिस भावना को व्यक्त किया है, वही भावना 'बापू' में भी आई है । कवि मान बैठा है कि बापू का आगमन संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए हुआ है, उसके संरक्षण के

लिए नहीं। संस्कृति के पुराने विश्वासों ने मनुष्य-मनुष्य के बीच एक खाई खोद दी, और उन्हें परस्पर एक दूसरे से प्रेम के नाम पर साथ रहने के लिए कहकर अपने अधिकारों और अपनी भौतिक आवश्यकताओं से बेखबर रहने की प्रेरणा दी। सच यह है कि कवि को संस्कृति का यह प्रयास सर्वथा आपत्तिजनक प्रतीत हुआ है। उसने यह भी अनुभव किया कि आत्मा और मन के राग अलापने व्यर्थ हैं, यदि हम मानव की भौतिक दशाओं में सुधार नहीं कर सकते। कवि इन दृष्टियों से ही यह मानता है कि बापू का आगमन युग के ऐसे मोड़ पर हुआ था, जहां वे चाहते तो हमारी युगों की संस्कृति के पुराने सिद्धान्तों को ही नई परिस्थितियों पर घटा सकते थे। इस प्रकार बापू, उसके लिए, नयी मानवीय संस्कृति के प्रेरक और प्रतिष्ठाता बनकर आए थे। उसकी इस भावना में आगे चलकर कुछ और भी सुधार हुआ।

नई दृष्टि : तटस्थता—सच यह है कि गांधी जी ने **दरिद्रनारायण** की जो कल्पना जगाई थी, कवि उससे अत्यधिक प्रभावित हुआ दीखता है। साथ ही रवीन्द्र के **मानवतावाद** ने भी उसे प्रभावित किया है। जिस समाज से कवि अब तक तटस्थ रहता आया था, अब वह उसके प्रति खुली आँखें और उन्मुक्त प्यार दिखाता बढ़ता है। पर, अब भी वह स्वयं को तटस्थ रखकर ही चलता है। सुख-दुःख की यह अनुभूति उसने क्रियात्मक रूप में नहीं ली है। वह दुःख के विस्तृत वर्णन को सुनाकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान बैठा है। यह बात अत्यन्त ध्यान देने योग्य है।

कवि ने इसीलिए इस चरण को 'युगान्त' नाम दिया है।

द्वितीय चरण—'युगान्त' के बाद कवि कुछ अधिक उत्साह के साथ 'समाजवाद' और 'प्रगतिवाद' की बातें करने लगता है। अब उसके लिए यह एक धार्मिक आस्था का विषय बन जाता है। उसके तर्क और उसकी युक्तियां कुछ अधिक गहरे और सशक्त बन जाते हैं। उसकी दृष्टि में, संस्कृति में ही नहीं, काव्य और अन्य सब पुरानी मान्यताओं में भी परि-

वर्त्तन लाने की आवश्यकता है। प्रगतिवाद का एक मुख्य लक्षण चारों ओर विप्लव या क्रांतिकारी परिवर्त्तन की पुकार मचाना रहा है।

नई शैली—कवि 'पंत' का कोमल स्वर उस पुकार को उतने गहरे रूप में उठाने को तैयार नहीं रहा है। पर, तो भी उसने **'खुल गए छंद के बंध, प्रास के रजत पाश'** के द्वारा काव्य में इस क्रांति की घोषणा की। इसे उसने 'नई दृष्टि' नाम दिया। पर सच यह है कि उसकी यह 'नई दृष्टि' कला के क्षेत्र में केवल कुछ स्थानों पर ही चल पाई। छन्द के बंधन केवल 'युगवाणी' की कुछ कविताओं में ही टूट पाए हैं। अनुप्रास या अलंकार तो स्वयं 'नई दृष्टि' नामक कविता में भी नहीं छूट पाए हैं। बल्कि वह कुछ अधिक ही बढ़ गए हैं। कवि के इस नूतन काव्य में वह कठोरता और उग्रता नहीं रही है, जिसे 'प्रगतिवादी' नाम से समझा जाता है। पर भाषा संस्कृत शब्दों से बोझिल अवश्य हो गई है। ऐसा बोझ छोटी और बड़ी सभी कविताओं में आया है। केवल कुछ सामान्य जीवन की कविताएं ऐसी हैं, जिनमें कवि एक चित्रकार के रूप में बैठा है और कुछ सरल शब्दों को उनमें ला पाया है। परन्तु, जहां सरलता है, वहां पर कठिनता के भी साथ ही दर्शन हो जाते हैं।

> **भूरे बालों की सी कतरन, छिपा नहीं उसका छोटापन,**
> **वह समस्त पृथ्वी पर निर्भय, विचरण करती श्रम में तन्मय।**

और,

> **निद्रा, भय, मैथुनाहार,**
> **ये पशु लिप्सायें चार, हुईं तुम्हें सर्वस्व-सार ?**

इन दोनों में यह देखा जा सकता है कि किस प्रकार कवि परस्पर विरोधी प्रकृति की भाषा का प्रयोग कर रहा है। इसी प्रकार अन्य कविताओं में भी एक ओर वह **'सिगरेट के खाली डिब्बे'** आदि शब्दों के साथ-साथ **'आत्मा का अधिवास न यह, वह सूक्ष्म अनश्वर'** का भी प्रयोग करता है। लगता है कि भाषा में वह सन्तुलन और एकरूपता नहीं ला पाया।

प्रकृति-चित्रण—प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से भी 'युगवाणी' का अपना महत्त्व है। यह ठीक है कि वह गंगा को 'नर-नारी जीवन-धारा' के रूप

में कहता है, पर तब भी उसका खींचा चित्र पहली दोनों काव्यावस्थाओं में खींचे चित्र से कतई भिन्न नहीं है। कवि उतनी ही रंगीनी के साथ प्रकृति को देखता है। उसमें अन्तर तब आता है, जब वह अन्तिम परिणाम पर पहुँचता है। 'गंगा का प्रभात' और 'गंगा की सांझ' दोनों कविताओं के अंत में क्रमशः कवि ने निम्न भाव लिखे हैं :

मुक्त अबाध बहे मानव जग, सुख स्वर्णिम हो सारा।

और, **युग-युग के सैकत-कर्दम से, रुद्ध, छिन्न सुख सारा।**

प्रमुख कविताएं—पर, 'युगवाणी' का महत्व किन्हीं और कविताओं में है। 'मार्क्स के प्रति', 'भूत-दर्शन', 'साम्राज्यवाद', 'समाजवाद-गांधीवाद', 'धनपति', 'मध्यवर्ग', 'कृषक', 'श्रमजीवी', 'मानव-पशु' और इसी प्रकार की कुछ और कविताओं में कवि ने इन सिद्धान्तों को ही व्यक्त किया है। सिद्धान्तों से भरी हुई ये कविताएं विचारों के कारण कुछ बोझिल हो उठी हैं। शब्दराशि तो कुछ जटिल हो ही गई है।

कलापक्ष—यहां यह स्पष्ट कर देना अधिक आवश्यक है कि कवि अलंकार आदि की दृष्टि से कहीं भी पीछे नहीं रहा है। यदि उसमें और उसके काव्य में कुछ न्यूनता दिखाई देती है, तो वह प्रत्यक्ष-दर्शन और अनुभूति की कमी की ही है। अन्यथा, कवि जिस बात का भी वर्णन करता है और जो भी चित्र प्रस्तुत करता है, उसे वह पूर्ण विस्तार के साथ देता है। उसकी कविता अन्य प्रगतिवादी कवियों से, इस दृष्टि से, नितांत भिन्न रही है कि वह विश्व को केन्द्र मानकर नहीं चला, बल्कि उसने पहले की भाँति स्वयं को ही केन्द्र माना है। उसकी कविताओं में तटस्थता की भावना, अब भी उसी प्रकार कायम रही है। कुछ गद्य-गीत अथवा मुक्त-छंद के गीत अच्छे बन पाये हैं। वे और लुभावने हो जाते, यदि उनमें संस्कृत के कुछ कठिन शब्द अनायास प्रवेश न पा जाते। लय और ध्वनि की दृष्टि से ऐसे चित्र अधिक पूर्ण हैं।

तृतीय चरण—'ग्राम्या' कवि की प्रगतिवादी रचना है। यह युग और व्यापक जीवन के प्रति कवि की खुली दृष्टि और सहानुभूति को

चित्रित करने में अधिक समर्थ रही है। यहां उसने ग्राम और लोक-जीवन से सम्बन्धित अनेक बातों को लिया है। 'ग्राम-कवि', 'ग्राम-चित्र', 'ग्राम-युवती', 'ग्राम-नारी', 'वे आंखें', 'वह बुड्ढा', 'धोबियों का नृत्य', 'ग्राम श्री', 'गंगा', 'कहारों का नृत्य', 'भारत माता', आदि रचनाएं इसी प्रकार की हैं। उनमें जन-जीवन और लोक के प्रति कवि की दृष्टि खुल कर व्यक्त हुई है। पर, यहां भी अन्तर यही है कि कवि स्वयं को जनता से एकाकार अनुभव नहीं कर पाया है।

दार्शनिक विवेचन—इसके अतिरिक्त इसमें ऐसी भी कविताएं कम नहीं है, जहां कवि दार्शनिक विवेचन पर बढ़ गया है। 'महात्मा जी के प्रति', 'ग्रामदेवता', 'सूत्रधार', 'संस्कृति का प्रश्न', 'सांस्कृतिक हृदय', 'बापू के प्रति', 'नव इन्द्रिय', आदि, रचनाएं युक्ति और तर्क से भरी हुई दीखती हैं। 'सन् १९४०' नामक कविता भी इसी प्रकार की बन पाई है। इन सब में कवि भौतिकवादी जीवन की मान्यता को अपनाने के लिए अधिक से अधिक आतुर रहा है। उसके कुछ चित्र बहुत अधिक रोचक और आकर्षक रहे हैं। 'राष्ट्रगान' एक ऐसी रचना है, जिस पर हम आज भी गौरव कर सकते हैं।

राजनैतिक दृष्टि—इस ग्रन्थ में व्यक्त कवि की सारी राजनैतिक दृष्टि को हम निम्न शब्दों में कह सकते हैं।

> **राजनीति का प्रश्न नहीं रे, आज जगत के सम्मुख,**
> **अर्थ-साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख।**
> **आज बृहत्, सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित।**

वह गांधी जी को **'निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीप शिखोदय'** के रूप में सम्बोधन करता है, और कहता है : **'अतः पराजय आज तुम्हारी जय से चिर लोकोज्वल'**। वह गांधी जी को मानव आत्मा का प्रतीक मानकर चलता है। इस पर भी यह सत्य है कि 'ग्राम्या' उसकी सैद्धान्तिक रचना नहीं है। इसमें अन्ततः वह कवि रूप में ही हमारे सामने आता है। नारी और मजदूरनी के प्रति वह सहानुभूतिमय होकर कहता है :

तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार,
जग के हित खोल दिए नारी के हृदय द्वार।
(मजदूरनी के प्रति)

और, पूतयोनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
अंग-अंग उसका नर के वासना चिन्ह से मुद्रित।
(नारी के प्रति)

इन दोनों में उसने नारी के दो रूप सामने रखे हैं। यहां नारी का उत्सर्ग और उसके प्रति मानव का हीन दृष्टिकोण दोनों ही सामने आते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि—इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि इन तीनों चरणों में ही सैद्धांतिक दृष्टि से प्रगतिवादी नहीं बन पाया है। वह 'समाजवाद' के दर्शन को समझकर और उसका अनुवाद करके भी एक तटस्थ प्रेक्षक की भांति अधिक रहा है। उसने स्थान-स्थान पर अपने को अलग रखते हुए ही विवेचना करने का प्रयास किया है। दरिद्र और निर्धन वर्ग के प्रति उसकी सहानुभूति मौखिक अधिक रही है। कहीं भी वह मौखिक सहानुभूति से अधिक आगे नहीं बढ़ा है। उसके सम्पूर्ण प्रगतिवादी काव्य में कहीं भी हम उसकी इस तटस्थता को टूटता हुआ नहीं पाते।

यहां एक और बात भी समझ लेनी आवश्यक है कि कवि समाजवाद के सभी सिद्धान्तों पर अन्धाधुन्ध विश्वास नहीं रखता। उसने वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य अवश्य माना है, और वर्गहीन समाज की स्थापना पर भी बल दिया है, परन्तु वह कहीं भी मानवता के इन आदर्शों को पाने के लिए हिंसा के प्रयत्नों में अधिक रुचि नहीं ले सका है। आज का 'समाजवाद' भी हिंसा को अनिवार्य नहीं मानता। परन्तु, पंत के 'प्रगतिवादी' दर्शन में यह अन्तर किसी और कारण है। वह जानता है कि जबतक हम अपनी संस्कृति को आमूल-चूल बदलने का प्रयास नहीं करेंगे, इसी प्रकार की उलझनों में फँसे रहेंगे। समाज की विकृतियां और उनके परिणाम इसी कारण सामने आते हैं कि मानव-मात्र का विश्वास उन सिद्धान्तों पर नहीं होता, जिनसे सच्ची समता और एकता स्थापित हो सकती है।

इसीलिए 'पंत' सांस्कृतिक प्रश्नों पर अधिक बल देते हैं, और इसीलिए वे भारतीय संस्कृति के आमूल-चूल परिवर्तन की बात करते हैं।

दर्शन का अन्तर—'पंत' के इस दर्शन में इससे पहले और पीछे के दर्शन से साम्य यही है कि वे समानता का एक सूत्र खोजने की दिशा में विभिन्न प्रयासमात्र हैं। 'पंत' का बुद्धिवाद उन्हें जीवन को खुली नज़र से देखने नहीं देता। इसीलिए उनका काव्य पूरे रूप में अपना जन-अनुकूल रूप प्रदर्शित नहीं कर पाता। यही कारण है कि उनके काव्य में खिचाव और दूरी का, अथवा उपदेश और तर्क का, भाव व्याप्त दिखाई देता है। इस बात को समझ कर ही हम इस बात का भी रहस्य जान जाएंगे कि वह अपने चरणों को चिंतन की दिशा अथवा अध्ययन के बदलने के साथ-साथ क्यों बदलते रहते हैं?

कला-दृष्टि—कला की बात हम साथ-साथ कहते आए हैं। **शब्दचित्र** और **ध्वनिचित्र** की दृष्टि से पंत का यह काव्य अधिक प्रशस्त रहा है। **नाद-संयोजना** की दृष्टि से भी यह काव्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि इसकी शब्दराशि कुछ अधिक सरल होती और इसके विषय जीवन के वास्तविक सत्यों के अधिक अनुकूल होते, तो यह काव्य अपनी तरह के काव्यों में बेजोड़ होता।

शृंखला की कड़ी—यह काव्य भी पंत की विस्तृत काव्य-रचना में एक कड़ीमात्र है, और इसका दर्शन उसके दार्शनिक अध्ययन का एक अंगमात्र है! इसमें दीखने वाली असंगति केवल अध्ययन के परिणाम से ही आई है। अन्यथा कवि की दृष्टि 'सर्वात्मवादी' भावना को किसी रूप में खोज लेने के लिए ही व्यग्र हो रही है।

पन्त और अरविन्द दर्शन

नव दृष्टि—सन् १९४३ की भयंकर बीमारी में पंत को यह अनुभव हो गया कि भौतिकता की जिन शक्तियों पर उन्हें अत्यधिक विश्वास था, वे ही शक्तियां समय आने पर असमर्थ और नाकाम सिद्ध हो गईं। आज के नये-नये अन्वेषण भी उनके किसी काम न आ सके। भौतिकवादी जीवन के प्रति इस प्रकार की अनास्था जगने के बाद पंत ने योगिराज अरविन्द और उनके दर्शन के सम्पर्क में आकर एक नया ही पथ पकड़ा। मानो उन्हें एक नई जीवन-दृष्टि मिल गई। इसे ही उन्होंने 'स्वर्ण-दृष्टि' कहा है।

यात्रा-पथ—उनके काव्य में यह अवस्था 'स्वर्ण-किरण' से 'लोकायतन' तक चलती रही है। 'कला और बूढ़ा चाँद' एक नया कदम अवश्य कहा जा सकता है; यद्यपि मूल भावना उसकी भी वही है। इसे कुछ लोगों ने 'अरविन्द दर्शन से प्रभावित चरण' भी कहा है। परन्तु हम इसे 'समन्वित दृष्टि का चरण' कहकर उनके जीवन का सबसे अधिक स्थिर चरण स्वीकार करने के पक्ष में हैं। 'समन्वयवाद' अथवा 'दिव्य मानवतावाद' जैसे नये नाम घड़ने की आवश्यकता हम अनुभव नहीं करते।

क्रमिक विकास—'काव्य-परिचय' नाम के अध्याय में हम यह स्पष्ट कर आए हैं कि इस काल की रचनाओं में एक क्रमिक विकास के दर्शन किए जा सकते हैं। कवि आरम्भ में केवल अरविन्द-दर्शन के सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट हुआ, किन्तु बाद में उसमें एक आस्था जगने लगी। उसके बाद वह जैसे स्वयं ही एक नये दर्शन का विकास करने लगा। इस सबके साथ कवि ने कुछ गीति-नाट्य भी लिखे हैं, जिनमें वह इसी दृष्टिकोण की नई व्याख्या, व्यावहारिक ढंग से प्रस्तुत करता है। कुल

मिलाकर इस रचनाकाल की प्रमुख रचनाएं मात काव्यों के रूप में, और तीन गीतिनाट्यों के रूप में ठहरती हैं। कवि इन सभी में दिव्य जीवन की एक विशिष्ट भावना से प्रेरित दिखाई देता है। वह अब तक मार्क्सवाद तथा भौतिकवाद के खोखलेपन से पूर्णतः परिचित हो चुका है। उसे अरविन्द-दर्शन के प्रति खिंचाव होते ही तुरन्त यह अनुभव हुआ कि वह कुछ पीछे छोड़ आया है। उसे लगा कि आखिर एक पूर्ण और द्वन्द्वहीन समाज के निर्माण के लिए केवल भौतिक शर्तें ही पूरा आधार प्रदान नहीं कर सकतीं। उसे फिर से अपनी पुरानी बात याद हो आती है। भौतिकवाद के पथ पर बढ़ने से पहले उसने 'ज्योत्स्ना' में एक सार्वत्रिक जीवन की कल्पना की थी, जिसमें सर्वत्र मंगल और कल्याण का ही रूप दिखाई देता था। परन्तु, वह जीवन-दर्शन कवि ने वैदिक दृष्टि के अनुसार समझा था। वह अब भी उसी प्रकार के जीवन की कामना में आगे बढ़ता है। वह अब भी मानव की आत्मा और शक्ति पर विश्वास लेकर चलता है। परन्तु, जैसे वह अपने पुराने दृष्टिकोण की कमी को ही पहचान जाता है। 'लोकायतन' में दृष्टि पूर्णता पाती है।

वैदिक दृष्टि से अन्तर—'चिदम्बरा' की भूमिका में पन्त 'द्वा सुपर्णा' कविता की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हैं। उन्होंने वैदिक दृष्टि के सम्बंध में पहले ऋषि से प्रश्न किया है—

> **कहीं नहीं क्या पक्षी ? जो चखता जीवन फल,**
> **विश्व वृक्ष पर वास, देखता भी है निश्चल ?**
> **परम-अहम् औ द्रष्टा-भोक्ता जिसमें संग-संग ?**

फिर वह स्वयं इसका उत्तर देता है—

> **ऐसा पक्षी जिसमें हो सम्पूर्ण संतुलन,**
> **मानव बन सकता है निर्मित कर तरु जीवन।**

कवि का यह प्रश्न इस आधार पर चला है कि उसकी दृष्टि में वैदिक ऋषि ईश्वर और जीव को अलग-अलग सीमाओं में बंधा स्वीकार करके चलता है। लगता है इससे मानव अपनी किन्हीं निश्चित सीमाओं में ही

बँधने के लायक रह जाता है। जैसे वह उन्हें वह कभी पार ही नहीं कर सकता। इसीलिए कवि अरविन्द की दृष्टि को अधिक पूर्ण समझता है। इस दृष्टि के अनुसार ये दोनों तत्त्व एक दूसरे के पूरक और एक ही आत्मा के दो रूप माने गए हैं। कवि अब एक नये जीवन के स्वप्न से पूरित हो उठता है, जिसमें आदर्श और क्रिया का भेद मिटकर एक समन्वय स्थापित हो जाएगा। वह समझ लेता है कि जीवन के ही दो स्तर हैं। कर्म करते रहने के बाद ही मानव अनासक्ति की अवस्था में पहुँच सकता है। आरम्भ से ही उस प्रकार का आदर्श प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह कोई बाहरी चीज नहीं है। उसे आत्मा की एक विकसित अवस्था ही कहा जा सकता है। व्यक्ति-जीवन अपनी उन्नति के द्वारा जब स्वयं को व्यक्तित्व की सीमाओं से ऊँचा उठाकर समष्टि से एकाकार अनुभव करता है, उस समय एक नई आधार भूमि प्रस्तुत हो जाती है। यहां आकर व्यक्तिवाद और समष्टिवाद एक दूसरे के पूरक हो उठते हैं। उनमें कोई भी विरोध नहीं रह जाता।

ईश्वरत्व की प्राप्ति—अरविन्द के दृष्टिकोण के अनुसार मानवता का सच्चा विकास उस दिन सम्भव होगा, जिस दिन व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर का जीवन उठकर ईश्वरत्व या दिव्यत्व की अवस्था तक पहुंच जायेगा। यहां उसे सम्पूर्ण जीवन एक होता दीखता है। जब तक हम व्यक्तित्व की सीमाओं में बंद हैं, तभी तक हमारे लिए जीवन भी अनेक सीमाओं में बँटा हुआ रहता है। देश, काल और वर्ग ऐसी ही सीमाएं हैं। परन्तु मनुष्यजीवन की एकता को पहचानते ही हमें ये सीमाएं टूटती नजर आती हैं। यह बात निम्न उद्धरणों में देखी जा सकती है :

हमें विश्व संस्कृति पृथ्वी पर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव उर कर निर्मित,
नव मूल्यों से हो जो कल्पित, पुनः लोक संस्कृति पर ज्योतित,
हो कृत काम नियति मानव की, स्वर्ग धरा पर बिखरे जीवित,

एक निखिल धरणी का जीवन, एक मनुजता का संघर्षण,
अर्थ-ज्ञान-संग्रह भव पथ का, विश्व क्षेम का करे उन्नयन।
(स्वर्णकिरण)

और, **सत्य-तथ्य विज्ञान-ज्ञान, दो पक्ष एक वहु के पोषक नित,**
लोकश्रेय जीवन उद्भव हित रहें विषम-सम चरण समन्वित।
वैयक्तिक सामूहिक गति के दुस्तर द्वन्द्वों से जग खंडित,
ओ, अणु, मृत जन, भीतर देखो, समाधान भीतर, यह निश्चित।
देश खंड से भू-मानव का परिचय देने का क्या क्षण यह,
मानवता में देश जाति हों लीन, नए युग का सत्याग्रह।
(वाणी)

दो छोर—ये दोनों उद्धरण कवि के अरविन्द दर्शन से प्रभावित चरण के दो छोर कहे जा सकते हैं। पहला उद्धरण इस चरण की प्रथम रचना में से है, और दूसरा उद्धरण इस काल की अन्तिम-पूर्व रचना में से है। भावना दोनों में एक है, परन्तु युक्तिक्रम में पर्याप्त अन्तर आ चुका है। यह बात 'सौवर्ण' में और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वहां कवि मानव के एकाकी बढ़ने पर आपत्ति करता है, और उसे ही सब आपदाओं का मूल स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में, एक विशेष दृष्टि को अपनाए बिना मानवता का सही विकास नहीं हो सकता। यह विशेष दृष्टि एकाकीपन की अपेक्षा सम्पूर्ण मानव जीवन की एकता को अथवा 'जन-मन' की भावना को अपना लेने की है :

देख रहा मैं, बरफ़ बन गया, बरफ़ बन गया,
मानव का चैतन्य शिखर, नीरव, एकाकी,
निष्क्रिय, नीरस, जीवन मृत, सब बरफ़ बन गया।
आह, उसे प्राणों का स्पन्दित ताप चाहिए,
जीने को जन-मन का भावोच्छ्वास चाहिए। (सौवर्ण)

'वाणी' में कवि इसी बात को कहते हुए उन उपायों को बताता है, जिनसे मानवता सही रूप में अपना विकास कर सकती है। इनमें से

वह सबसे प्रमुख उपाय बताता है, भौतिक और अध्यात्मिक जीवन के समन्वित दृष्टिकोण को अपनाना !

> जड़ से चेतन, जीवन से मन, जग से ईश्वर को वियुक्त कर,
> जिस चिन्तक ने भी युग दर्शन दिया भ्रांति वश जन-मन दुस्तर।
> किया अमंगल उसने भू का, अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन,
> जड़ चेतन जीवन मन आत्मा एक, अखंड, अभेद्य, संचरण।
> भूपर संस्कृत इन्द्रिय जीवन मानव आत्मा को, रे अभिमत
> ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, संन्यासी, जीवन से उपरत।
> आत्मा को प्राणों से बिलगा, अधिदर्शन ने की जग की क्षति
> ईश्वर के सँग विचरे मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति।

विशिष्ट जीवन-दृष्टि—इस सम्पूर्ण युग में कवि ने धीरे-धीरे एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि का विकास किया है। निश्चय ही इस सबके पीछे प्रेरणा अरविन्द-दर्शन की ही रही है। योगिराज अरविन्द की प्रसिद्ध रचना 'दि लाइफ डिवाइन' ने कवि को एक विशेष प्रेरणा दी। तब उसने 'सावित्री' के सिद्धान्त को समझा। और, उसके बाद उसकी दृष्टि युग के विश्लेषण में जुट गई। उसने युग की सम्पूर्ण समस्याओं की एक विशेष दृष्टि से व्याख्या की। सच तो यह है कि कवि भारतीय संस्कृति के उस सत्य को फिर से अनुभव कर लेता है, जिसमें त्याग और भोग, तथा ऐहिकता और पारलौकिकता को एक स्थल पर मिला दिया गया है। वह अब अन्तर्जीवन और बहिर्जीवन में एकता का सूत्र पहचान लेता है। कर्म और उपासना उसके लिए दो चरण नहीं रह जाते। ईश्वर और जीव उसके लिए एक ही हो जाते हैं। वह कहता है—

> आज व्यक्ति के उतरो भीतर, निखिल विश्व में विचरो बाहर,
> कर्म वचन मन जन के उठकर बनें युक्त आराधन,
> जगती मानव में देवोत्तर, मिट्टी की प्रतिमाएं नश्वर,
> शुभ्र प्रभात छवि स्नात निखरते, भू, जनपद, पुर, कांतर।
>
> (उत्तरा)

या, **ईश्वर के संग विचरे मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति।**

कवि की इस सम्पूर्ण समन्वित चेतना को हम इस रूप में कह सकते हैं :

मैं उपकृत, इन्द्रियां, रूप, रस, गंध, स्पर्श, स्वर,
लीला-द्वार खुले अनंत के बाहर-भीतर,
अप्सरियों से दीपित सुर-धनुओं के अंबर,
निज असीम शोभाओं से तुम पर न्योछावर।

दृष्टि की एकता : क्रम—कवि की इस दृष्टि के क्रमिक विकास को समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस काल में लिखे गए उसके सम्पूर्ण काव्यों का अध्ययन कर लें। इसके लिए अधिक उचित होगा, यदि 'काव्य-परिचय' नामक अध्याय में आए प्रत्येक ग्रन्थ के परिचय को फिर से देख लिया जाए। वास्तव में कवि के दृष्टि-विकास में उन काव्यों का किसी निश्चित क्रम में महत्त्व नहीं है। महत्व केवल इतना ही है कि वहां हम क्रमिक विकास की दृष्टि से कुछ ऐसी बातों को पा लेते हैं, जो हमें उसकी नई दृष्टि को समझने में पूरी सहायता देती है। अन्यथा वहां पर बहुत सी सैद्धान्तिक और दूसरी अड़चनें हमारे सामने आ जाती हैं।

स्वर्ण-किरण—'स्वर्ण किरण' में कवि आरम्भिक अवस्था में चलता हुआ नये दर्शन के नये जोश से भरा हुआ दिखाई देता है। वह यहां युक्ति और तर्क के द्वारा अरविन्द के दिव्य-जीवन के आदर्श को स्पष्ट करने के लिए बढ़ा है।

सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन,
बृहत् विश्व-इतिहास चेतना जीता किन्तु निरन्तर।

यहां स्पष्टतः अपनी पुरानी दृष्टियों की त्रुटि की स्वीकृति है।

स्वर्ण धूलि—'स्वर्ण धूलि' में कवि 'दर्शन' को स्पष्ट करने से आगे नहीं बढ़ा है। वहां भी वह अरविन्द द्वारा व्याख्या किये गए विभिन्न तत्त्वों को स्पष्ट करने में ही लगा है। भारतीय स्वातन्त्र्य ने उसके सामने भी, अरविन्द के समान ही, एक नई आशा जगा दी। वह इस स्वतन्त्रता

को विश्व भर में दिव्य जीवन विकास का एक बड़ा चरण स्वीकार करता है। कवि की दृष्टि स्वयं भी अपना स्थिर रूप लेना शुरू कर देती है। 'आजाद' शीर्षक कविता में कवि इस दृष्टि को स्पष्ट करता है।

हो आजाद यहीं तक कहता, तुमसे एक पैर उठ ऊपर,
बँधे हुए दुनिया से कहता, पैर दूसरा अड़ा ज़मीं पर।

ये दोनों पैर मनुष्य जीवन के दो पहलू हैं। इनमें ही समन्वय को जगाना कवि का लक्ष्य बन जाता है। इसीलिए जीवन के विविध पहलुओं पर वह अपनी टिप्पणी देता है। वह जगत् और प्राणों में एकता स्थापित करना चाहता है। इसी से सच्चा माधुर्य जगता है। वह कहता है :

निष्ठुर जग, निर्मम जीवन, रस बन, रस बन, प्राणों में।

युगपथ और उत्तरा—'युगपथ' और 'उत्तरा' उसके दो अगले चरण हैं। इनमें उसने कठोर वास्तविकताओं का विवेचन किया है। भारत के विषय में भी उसने चिन्ता की है। वह जीवन की एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ने के लिए अभिलाषा लिए हुए है। वह जानता है कि ईश्वर या दिव्य-जीवन केवल अपनी चेतना के विकास से ही सम्भव है। उसके लिए हमें बाहर से मुख मोड़ने की आवश्यकता नहीं, बल्कि कुछ ऊँचा उठने की ही आवश्यकता है। हम स्वयं को इस स्थिति तक ले आएं कि बाहरी जीवन और अन्तः जीवन में हमें भेद न दिखाई दे। यहाँ भी उसने भारत को 'नव मानवता निर्माता' के रूप में स्वीकार किया है। वह मानवता को एक समुद्र के समान समझता है। आज मानवता दुःखी और त्रस्त है। भारत उसके लिए आशा का संदेश बनकर आया है।

आज रक्त लथ-पथ मानव-तन, द्वेष कलह से मूर्छित जनमन,
भारत, निज अन्तर-प्रकाश का, पुनः पिलाओ नव संजीवन।

कवि भगवान् से इसी प्रकार के जीवन की प्रार्थना करता है। वह मानव को भी आन्तरिक और बाह्य जीवन में एकता स्थापित करने का आह्वान करता है। वह उसमें से ही दिव्य-जीवन का विकास होता पाता है। बाहर के पटों से ध्यान हटाकर ही हम अन्तःपट खुलते पाते हैं।

सो जाता ममता का मर्मर, खुलता अन्तरतम का अम्बर ।

इस प्रकार कवि जिस दृष्टि को विकसित करना चाहता है, वह जीवन की नव-दृष्टि, और मानवता के लिए नई 'युग-दृष्टि', बन जाती है।

तीन गीतिनाट्य—अगली तीन रचनाएं गीतिनाट्य हैं : 'रजत शिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण'। तीनों में ही कवि इस धरती पर एक दिव्य जीवन को विकसित हुआ देखना चाहता है। कहीं वह 'जन मंगल-धाम बनाए भू को', कहीं 'धारा स्वर्ग नभ निखर रहा', और कहीं 'युग प्रभात नव, युग वसंत नव' के रूप में इसी धरती पर एक नये विकसित जीवन को देखना चाहता है। तीनों स्थानों पर ही उसने समन्वित जीवन की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया है, और तीनों ही स्थानों पर उसने एक नई मानवता के विकास का राग गाया है। उसकी भावना का सम्पूर्ण सार निम्न शब्दों में कहा जा सकता है :

युग युग की वह मौन प्रतीक्षा, मर्म गुंजरित जीवन-दीक्षा,
सफल आज, जन भू में अर्जित, इन्हें स्नेह से हृदय लगाएं।
ये प्रतीक जन-हृदय-मिलन के, जन-पूजन, जन-आराधन के,
भाव युगों के इनमें विकसित, इन फूलों को शीश चढ़ाएं।

अतिमा और वाणी—अगली दोनों रचनाएं— 'अतिमा' और 'वाणी'— कवि की स्वतन्त्र दृष्टि की सूचिका हैं। इन दोनों में ही कवि अपनी इस दृष्टि का पूर्ण रूप में 'उपसंहार' प्रस्तुत करता है। उसकी दृष्टि में मानवता को नये भविष्य पर बढ़ना है। इसलिए वह युग को सही दृष्टि अपनाने के लिए बारबार आह्वान करता है। उसकी सभी कविताएं इस नई दृष्टि की प्रचारिकामात्र सिद्ध होती हैं। यहां उसने पक्षी 'पर्वत' स्फटिक, जैसी चीजों को ही अपने संदेश का माध्यम बनाया है। वह युग को निम्न संदेश देता है :

लो, मैं असीम का लाई हूं सन्देश तुम्हें,
जाओ, फिर खुली प्रकृति की गोदी में बैठो,

फिर दिक् प्रसन्न जीवन के आंगन में खेलो,
उद्देश्यहीन भी रहना जहां मधुर लगता।

'वाणी' में कवि अपने जीवन की व्याख्या देने में भी लगा है। 'आत्मिका' उसके अपने ही जीवन का चित्र है। कवि इसमें स्वयं को भी एक ऐसे 'नये युग' का प्राणी मान लेता है। वह नये युग को आता हुआ अनुभव करता है :

आज रुपहले अन्तर हिम शिखरों पर,
सुनता मैं स्वर्णिम रथ चक्रों का स्वर,
उतर रहे भावी के भुवन अगोचर,
सप्त अश्व रवि कवि पंखों पर भास्वर।

नया मोड़—इसके बाद कवि एक नई दिशा में बढ़ जाता है। अब उसके विचार अधिक स्थिर हो चुके हैं। परन्तु वह वास्तविकताओं को भी आंखों से ओझल करना नहीं चाहता। 'कला और बूढ़ा चांद' इसी बात की स्वीकृति है। **'लोकायतन'** की चर्चा हम अगले पृष्ठों में अलग से करेंगे।

उपसंहार—कला की दृष्टि से इस चरण का महत्त्व अधिक नहीं है। 'ग्राम्या' और इसकी कला में विशेष अन्तर नहीं है। प्रतीक योजना में कवि को अधिक उलझना पड़ा है। इसके अतिरिक्त कोमलता और माधुरी की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। भाषा और शैली की बात भी हम अन्यत्र कह आए हैं। विशेष वक्तव्य केवल इतना ही है कि कवि जहां-जहां दार्शनिकता में उलझता रहा है, वहां-वहां कुछ कठिनता आई है, छंद भी बड़े बन गए हैं, और कविताएं भी लम्बा आकार ग्रहण कर गई हैं। परन्तु, जहां उसने अपनी स्वतंत्र दृष्टि प्रकट की है, वहां उसके गीतों में सरलता और कोमलता उमड़ती आई है। कुछ संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग इसी दार्शनिकता के कारण हुआ है।

१०

लोकायतन : महाकाव्य

आखिर पंत ने महाकाव्य का भी सृजन कर ही दिया। 'शिल्पी', 'रजतशिखर', एवं 'सौवर्ण' के द्वारा यह तो सिद्ध हो ही गया था कि पंत इस दिशा में बढ़ रहे हैं। मुक्तक का कवि एक भाव-धारा को धीरे-धीरे परिपक्वता देने में लगा हुआ था। उसकी भावधारा के इस विकास ने ही 'लोकायतन' का रूप लिया है। कवि ने इसे ग्रामधारा के अंचल में, जनभावना के छन्द में बंधी, युगजीवन की भागवत कथा' कहा है। इसकी रचना का उद्देश्य वह मानता है : 'इस संक्रान्तिकाल की युग-गाथा के भीतर से विकासकामी मानवता के जीवन-सत्य की झांकी प्रस्तुत करना।'

छह सौ अस्सी पृष्ठ के इस विस्तृत महाकाव्य में 'कामायनी' से लगभग छह गुना कथा विस्तार, एवं लगभग आठ गुनी शब्दराशि संचित है। आधुनिक हिन्दी में विस्तार की दृष्टि से इतना विशालकाय महाकाव्य कदाचित् आज तक नहीं लिखा गया। कवि के आत्मकथन के आधार पर इसे पूरा होने में चार वर्ष लग गये हैं। युग-गाथा के प्रयास में कवि अपनी सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि एवं युग-दृष्टि को भी इसमें बद्ध करने का लोभ-संयम नहीं कर सका। इस दृष्टि से उसका यह काव्य कथा की सीमा में ही नहीं रह गया है। विचार-प्रधान कवि की सम्पूर्ण विचार-धारा ने समवेत होकर इसको महाकाव्य बनाने में भारी योगदान दिया है।

'कामायनी' से तुलना—यहां यह अवधेय है कि इसका पूर्ण अध्ययन करने के बाद यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि कवि इसे नये ढंग की 'कामायनी' के रूप में ही लिख रहा है। 'पूर्वस्मृति' 'चिन्ता-सर्ग' की भांति ही अतीत का स्मरण कराने वाला अंश है। दूसरे शब्दों में यह

प्रस्तावना है। 'जीवन-द्वार' का प्रथम खण्ड 'युग-भू' भी इस दृष्टि से प्रस्तावना में ही आ सकता है। इसमें नमक-सत्याग्रह से लेकर तृतीय निर्वाचन तक की भारत की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि आ जाती है। वंशी है युग-कवि और हरि है कर्म-प्राण। 'कामायनी' का मनु और 'लोकायतन' का वंशी एक ही स्तर के दीखते हैं।

उन दोनों की समानता केवल नायक होने में ही नहीं है। उनकी समानता इस बात में भी है कि 'उत्तर-स्वप्न' का नायक भी वंशी ही रहता है। मनु 'आनन्द सर्ग' में फिर से नायकत्व ग्रहण कर लेते हैं। अतुल और मानव समकक्ष ठहरते हैं। दोनों ही 'ऊर्ध्वचेतन' और 'समरस' की स्थिति में आत्मलीनता अनुभव करते हैं।

'कामायनी' की श्रद्धा यहां दो भागों में बँट गई है। 'निर्वेद' पूर्व की, और उसके उत्तर की। 'रहस्य-सर्ग' और 'आनन्द सर्ग' की श्रद्धा यहां 'उत्तर स्वप्न' की मेरी बन जाती है। आनन्द सर्ग की श्रद्धा का 'कामायनी' मे रूपान्तरण उत्तर-स्वप्न की मेरी की 'संयुक्ता' में रूपान्तरण ही है। स्वयं 'उत्तर-स्वप्न' 'आनन्द' और 'रहस्य' सर्गों का मिला जुला रूप है। कामायनी का 'रहस्य' सर्ग यहाँ वंशी की विदेश यात्रा का रूप धर कर 'अन्तर्चैतन्य' के 'कला द्वार' में प्रगट हुआ है।

इस बाहरी साम्य के प्रसंग में यह भी अवधेय है कि 'इड़ा' और 'संघर्ष' सर्ग के अवरोधों का स्थान यहां माधो और वाग्विलास के कार्यों ने लिया है। उनके द्वारा हिंसा का प्रयोग उसी संकेत को लिए हुए है।

यह बात यहाँ अवधेय है कि 'कामायनी' का अनुकरण मात्र ही 'लोकायतन' नहीं है। पंत जी ने कभी कहा था, 'यदि मैं कामायनी लिखता'। इस महाकाव्य में उनकी सम्पूर्ण धारणाएं साकार हो गई हैं। कुछ कमियां उन्हें विचारधारा की और शैली की वहाँ प्रतीत हुई थीं। पन्त जी अरविन्द-दर्शन के आधार पर जिस 'दिव्य-जीवन' एवं 'ऊर्ध्व-संचरण' की बात सोचते रहे हैं, वहाँ 'मानव-ईश्वर' की कल्पना को साकार करना उनका ध्येय रहा है। 'मंगलायतनो हरिः' की भावना ने उन्हें 'लोकायतन'

की कल्पना चुनने को प्रेरित किया है। 'ऊर्ध्व-संचरण' के द्वारा वे भी, प्रसाद के समान ही, मंगल भूमि में पहुंचते हैं। उनकी प्रकृति का वातावरण भी प्रसाद की आनन्द स्थली से मिलता है। वहां 'शिव' हैं 'चेतन पुरुष पुरातन', और यहां स्वयं 'दिव्य पुरुष' ईश्वर बन जाता है।

तुम उदय हुए रस सूर्य दिव्य, कर धरा योनि का तम दीपित।

...हंस मानव ईश्वर ने खोले, भू अंधकार के गुहा द्वार।

'कामायनी': **थे लुप्त हो रहे दिशा काल।**

लोकायतन: **लय हुआ काल संग दिशा ज्ञान।**

...देखा उसने दिक्-काल जगत्, कुछ भी न शेष था अब निश्चित।

कामायनी में था श्रद्धा की मुरली का स्वर-गुंजन। यहां है संयुक्ता का मन 'करता संलाप स्वगत गोपन'। कामायनी में प्रकृति में से स्वयं 'आनन्द-अंबुनिधि-शोभन' फूट पड़ा था, पर यहां है 'रस गुहा-द्वार से उतर ज्योति।' एक कहता है: 'आनन्द अखण्ड घना था,' दूसरा कहता है: 'आनन्द प्रीति रस के निर्झर'। प्रसाद कहते हैं: 'मानव कहरे यह 'मैं' हूँ, यह विश्व नीड़ बन जाता।' पंत कहते हैं:

करतल पुट में शोभित अनंत, जीवन समग्रता में परिणत।

भू-योनि-गर्भ में छिपा स्वर्ग, साकार हो सका प्रथम बार।

इस प्रकार **'दिव्य जीवन का धरती पर अवतरण'** एवं **'जग जीवन का दिव्यारोहण'** इन दो वाक्यों में 'लोकायतन' और 'कामायनी' का उद्देश्य-भेद सिद्ध कर सकते हैं। 'कामायनी' इस धरती से ऊपर के जीवन की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है, जब कि 'लोकायतन' दिव्य जीवन का आह्वान इस धरती पर करना चाहता है। मनु की अपेक्षा कवि ने वंशी को यहां अधिक लौकिक बनाने का प्रयास किया है; यद्यपि यह भी सत्य है कि वंशी की विचारक रूप में प्रबुद्धता उसे मनु की अपेक्षा अधिक सजग भी रखती रही है।

कथा-तत्त्व एवं संगठन—स्थूल रूप में हम इसे स्वातंत्र्योत्तर भारत की कथा कह सकते हैं। चीनी आक्रमण तक की बात इसमें आ गई है।

यह जीवन-प्रधान काव्य नहीं रहा है। कामायनी में संभवतः इसकी अपेक्षा कुछ अधिक कथा-तत्त्व रहा है। इतना विस्तार होने पर भी इस महाकाव्य में कथा-तत्त्व अधिक व्याप्त, एवं घटनाक्रम अधिक उलझन पूर्ण नहीं है। सर्वत्र चिन्तन की प्रधानता रही है।

इस सारी कथा को कवि ने दो खण्डों में बाँटा है : 'वाह्य परिवेश' और 'अन्तश्चैतन्य'! पहले खण्ड के चार भाग हैं : पूर्व स्मृति (आस्था) जीवन द्वार, संस्कृति द्वार, एवं मध्य-बिन्दु (ज्ञान)। द्वितीय खण्ड के तीन भाग हैं : कलाद्वार, ज्योति द्वार, और उत्तर स्वप्न : प्रीति।

जिस प्रकार 'कामायनी' में 'चिन्ता' मनु की अतीत स्मृति है और 'आनन्द' उसका 'भावी-दर्शन' है, उसी प्रकार यहां 'पूर्व स्मृति' और 'उत्तर स्वप्न' क्रमशः अतीत और भविष्य के प्रतिनिधि हैं। इनमें से में चारों 'द्वारों' के फिर तीन तीन अंश किए गए हैं। इन सबके नाम अलग अलग हैं। इस प्रकार यह कथा मूलतः सात एवं वस्तुतः पन्द्रह भागों में बँटी हुई है।

'वाह्य-परिवेश' और 'अन्तश्चेतना' के रूप में कथा का विभाजन कवि की दार्शनिक विचारणा के कारण है। पूर्व भाग में इतिहास की मात्रा अधिक है, जब कि उत्तर भाग में कवि का चिन्तन अधिक है। वर्णनात्मकता का उत्तर भाग में अभाव नहीं है। विदेश-यात्रा का प्रसंग, ऋतु-वर्णन, एवं प्रकृति के वर्णन पर्याप्त विस्तृत हैं। वंशी की संसार की स्थिति के प्रति चिन्ता कवि के राजनैतिक चिन्तन एवं संसार की वास्तविक स्थिति से उसके परिचय की सूचना देती है।

कथा के बीच-बीच में प्रेम का प्रसंग भी उठाया गया है। प्रसाद मांसल-भोग को हेय नहीं मानते थे। पर, पन्त नारी-नर के प्रेम को निश्छल और अकलंक रखने पर ही बल देते हैं।

कथा सूत्र की अस्वाभाविकता यह है कि यह सारी कथा ग्राम के वातावरण पर आधारित है। कवि 'कला-केन्द्र' को 'केन्द्रीय-शासन' के रूप में देखता है। वंशी नेहरू का प्रतिनिधि हो उठता है। नेहरू के

व्यक्तित्व को वस्तुतः हम हरि और वंशी के रूप में बँटा पाते हैं। 'माधो' के विशेषण राजगोपालाचार्य और कृपलानी जैसे व्यक्तित्वों की याद दिला देते हैं। 'सुन्दर पुर' स्वयं देहली का प्रतिनिधि होना चाहिए। पर कवि युग और देश की बात को एक गाँव में घटाने का श्रम करता रहा है। वंशी की विदेश यात्रा उसकी आँखें खोल देती है। वह हरि को भी नव-पथ का अनुगामी बना लेता है। शंकर की मूक भक्ति लेकर वह 'युग-कवि' के रूप में आगे बढ़ता है। 'अतुल' उसी का पालित पुत्र है। वह 'दिव्य-लोक' का है। वह 'आत्मलीन' हो जाता है। दिव्यता का धरती पर अवतरण यहाँ भी, 'कामायनी' की भाँति, हिमालय की गोद में ही जाकर होता है। यह मेरी के आश्रम—लोकायतन—में ही होता है।

कवि का मानस पुत्र 'लोकायतन' मनु और श्रद्धा के आश्रम से भिन्न है। प्रसाद ने उस आश्रम को शैवों के स्पन्द और स्फोट सिद्धांतों पर स्थापित किया था। जबकि मेरी का 'लोकायतन' अरविन्द-दर्शन पर आधारित है। यहाँ भी मेरी के सम्मुख वंशी अपनी त्रुटि स्वीकार करता है, श्रद्धा के सम्मुख मनु की भाँति। कदाचित् इड़ा का स्थान माधो ने लिया है। वह अन्ततः अपने शिष्यों को हिंसा से रोकना चाहता है, पर वे शंकर की हत्या कर ही देते हैं।

इस प्रकार 'लोकायतन' महाकाव्य में, कथा-सूत्र एवं उसकी व्यापकता होने पर भी, कवि एक विशिष्ट दृष्टि को ही लेकर बढ़ा है, वह स्थान-स्थान पर चिन्तन में इतना बढ़ जाता है कि कथा-सूत्र विच्छिन्न हो जाता है। मूलतः यह काव्य चिन्तन-प्रधान है।

पर 'रूपक' इसे पूरी तरह नहीं कहा जा सकता। भारत के अतीत और वर्त्तमान की हर बात का प्रतिनिधित्व इसके पात्रों में नहीं खोजा जा सकता। इस में मुख्य इतिहास को सीधे रूप में व्यक्त किया गया है वंशी, हरि, आदि पात्रों को पूर्णतः किसी एक व्यक्ति का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। 'लोकायतन' की माता संयुक्ता को पाण्डीचेरी के अरविन्दाश्रम की 'माता जी' का प्रतिनिधि भी पूरी तरह नहीं कहा जा

सकता। ये सब व्यक्ति किसी एक एक भाव के प्रतिनिधि नहीं हैं।

पात्र और उद्देश्य—कवि ने भूमिका में गांधी जी को भी इस काव्य का एक पात्र माना हैं। सत्य यह है कि गांधी जी किसी भी दशा में इस काव्य के प्रमुख पात्रों में नहीं हैं। उनकी प्रासंगिक चर्चा आई है। पर महाकाव्य में उन्हीं पात्रों को मुख्य या महत्त्वपूर्ण समझा जाता है, जिनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में काव्य की उद्देश्य-प्राप्ति में सहायता मिलती है। ऐसे पात्रों में विधायक पक्ष में वंशी, हरि, शंकर, श्रद्धा, मेरी, आदि की गणना हो सकती है, जबकि विनाशक पात्रों में माधो, वाग्विलास, आदि आ जाते हैं। जन संघ, समाजवादी दल, साम्यवादी दल, कांग्रेस, आदि राजनैतिक संस्थाओं का भी प्रतिनिधित्व इसमें है।

वंशी इस कथा का नायक है और, पत्नी न होने पर भी, **मेरी** को इसकी नायिका कहा जा सकता है। 'कामायनी' की श्रद्धा की भाँति यहां मेरी नायक से प्रधान नहीं हो उठी है। विदेश से आकर भी वह हिमालय की गोद में आश्रम बसाती है। इस प्रकार वह अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रतीक बन जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय मानवता के दिव्य-विकास में ही कवि मानव-जीवन की चरम उपलब्धि मानता है।

कवि पूँजीवाद और साम्यवाद के सह-अस्तित्व को आँखें मूँदकर स्वीकार नहीं करता। वह अमरीका और रूस के विधायक और विनाशक पक्षों पर पूरी तरह विचार करता है। समृद्धि और समानता—दोनों में ही उसका विश्वास है। भौतिकवाद के थोथेपन को वह समझ चुका है। हिरोशिमा का अणुसंहार उसे स्मरण है। इसीलिए वह अणुशस्त्रों की दौड़ से परेशान है। दोनों को ही वह समझाना चाहता है। वंशी इसी लक्ष्य से प्रेरित है। हरि और शंकर उस पर पूर्ण निष्ठा रखते हैं।

पर घर के भेदी और षड्यन्त्रकारी माधो और वाग्विलास मठधारी और चेले हैं। परम्परा का उल्लंघन वे सहन नहीं करते। परिणामतः हिंसा को बल मिलता है। विश्व में भ्रातृत्व का प्रसार चाह कर भी वंशी घर में अन्तर्विरोधों से घिरा है। यह समस्या सार्वत्रिक है।

मेरी दो संस्कृतियों के मिलन एवं ऊर्ध्व-संचरण की प्रतीक है। उसने जीवन का नव-पथ खोज निकाला है। पश्चिम और पूर्व 'बाह्य' और 'अन्तर्' के भेद से बँटे हुए हैं। पर सत्य यह है कि दोनों अधूरे हैं। सत्य की स्वीकृति उसकी समग्रता में है, अंशों में नहीं। अहिंसा-हिंसा एवं गांधीवाद, समाजवाद और पूंजीवाद का भेद सत्य को इसी सम्पूर्णता में समझने के बाद मिटना सम्भव है।

महाकाव्यत्व—'लोकायतन' के सम्बन्ध में महाकाव्यत्व के विषय पर सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु युग-जीवन का विवेचन, दार्शनिक आलोचना, एवं आदर्श-नियोजना, आदि इतनी जटिल हो गई हैं कि उनसे कथा-सूत्र उलझ से गए हैं। 'पूर्वस्मृति' स्वतः कुछ इतनी उलझ गई है कि कथा-सूत्र का आभास तक नहीं मिलता। फिर 'जीवन-द्वार' भी वास्तविक समस्या को पूरी तरह सामने नहीं लाता। इस दृष्टि से तो यह भी कहा जा सकता है कि 'उत्तर-स्वप्न' भी पूरी तरह उद्देश्य को स्पष्ट नहीं कर पाता।

जहां तक वर्णनात्मकता का सम्बन्ध है, कवि वर्णन-चतुर रहा है। इतिहास, देश-वर्णन एवं प्राकृतिक वर्णन में कवि की प्रतिभा-चातुरी अधिक स्पष्ट हुई है। पर स्वतः कथा-सूत्र में तारतम्य पूरी तरह स्पष्ट रूप में उभर कर सामने नहीं आता। दार्शनिकता और चिन्तन-प्रधान वृत्ति राह में अनेक बार आड़े भी आ जाती हैं। अतुल के व्यक्तित्व का वर्णन इस प्रकार है :

युग जीवन के प्रति उदासीन, अपने ही भीतर अन्तःस्थित,
व्यक्तित्व अतुल का घना प्रौढ़, निःसंशय, व्यक्ति प्रकृति अविजित।

'समरसता' के सिद्धान्त के उपहास में कवि कहता है :

समरस स्थिति में ही अटक ऊर्ध्व संभव न बहिर्मुख विश्व प्रगति,
बहुरस वैचित्र्यों के भीतर, मानव जीवन की सत् परिणति।
सम विषम न वह, बहु एक न वह, सापेक्ष्य मान भर ये निश्चित,
सम विषम, एक बहु से अतीत, सम विषम एक बहु में मूर्त्तित।

व्यक्ति-पूर्णता का रहस्य कितना दार्शनिक हो उठा है, पर 'कामायनी' से कितना विपरीत ?

> **आनन्द रूप मैं हूँ अपूर्व, मैं स्वतः एक से बहु बनकर,**
> **इन्द्रिय मांसल भू जीवन में, रस मूर्त्त सत्य शिव से सुन्दर।**

इस प्रकार विभिन्न उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि दार्शनिकता के मोह में अधिक उलझा है। इससे उसके वर्णन प्रवाह में शैथिल्य आया है।

किन्तु, दूसरी ओर उत्तर-स्वप्न के षड्-ऋतु-वर्णन एवं प्राकृतिक वातावरण के वर्णन में प्रवाह भी देखने को मिलता है। यही बात विदेश-यात्रा-प्रसंग में भी है।

इस पर भी यहां महाकाव्यत्व के अनुकूल प्रवाह सर्वत्र नहीं आया है। उर्वशीकार 'दिनकर' की भांति कवि इतना विचार-प्रधान हो उठा है कि कथासूत्र गौण रह जाता है। यह बात आज के युग की प्रवृत्ति के कारण है। युगप्रवृत्ति विचार-प्रधान हो उठी है। भारत के भावी निर्माण की समस्या जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद तो और भी गम्भीर हो उठी है। कवि का यह काव्य यद्यपि उस महान् नेता की मृत्यु से बहुत पहले लिखा गया था और प्रकाशित भी हुआ था, तब भी इसमें भावी के प्रति जो चिन्तन निहित है, वह इस काव्य को 'युग का महाकाव्य' सिद्ध करने में पर्याप्त है।

प्रश्न उठ सकता है कि इसके विचार एवं इसका उद्देश्य ग्राह्य हैं या नहीं, अथवा उनमें क्रियात्मकता है या नहीं ? आज की पृष्ठभूमि पर इस जीवन को आने में कवि के अपने अनुमान के अनुसार कई दशक लग जाएंगे। यह 'ऊर्ध्व-जीवन' इतनी सरलता से स्थापित होना सम्भव नहीं है। इसके लिए जिन उच्चतर व्यक्तित्वों के मूर्धन्य स्थिति में आने की आवश्यकता है, उनके अभाव में यह सब स्वप्न अपूर्ण ही रह जाएगा।

पर इससे 'महाकाव्य' को क्या अन्तर ? यदि उसमें युग की सम्पूर्ण समस्याओं को सही रूप में समझा गया है, तो उसे युग-महाकाव्य कहना

ही चाहिए भले ही उसका समाधान व्यक्तिनिष्ठ या एकांगी हो । पंत चाहते हैं सामूहिक रूप में ऊर्ध्व-जीवन का विकास । यदि यह विकास व्यावहारिक रूप में न भी सम्भव हो, तब भी कवि की ओर से युग के रोगों के इलाज रूप में अवश्य प्रस्तुत है । दिनकर की 'उर्वशी' में समस्या किसी और केन्द्र पर घूम रही है । प्रसाद की 'कामायनी' और 'लोकायतन' की समस्या लगभग एक है । 'लोकायतन' प्रत्यक्षतः भारत के वर्तमान जीवन की झांकी लिए बढ़ता है, और कामायनी मानवता की ! पर दोनों का समाधान 'अन्तर्राष्ट्रीय मानवता' के आधार पर होता है । आधुनिक हिन्दी के ये तीनों ही महाकाव्य 'प्रेम' के स्वरूप और उसकी वास्तविकता के बारे में अलग-अलग मत लेकर चले हैं । उनके समाधान भी अलग-अलग हैं । दिनकर 'मांसल भोग' और समर्पण के बीच का पथ खोज पाए हैं । प्रसाद-भोग के साथ रहने पर भी समर्पण को ही प्रधानता देते हैं । किन्तु, पंत मांसलभोग की बात से बार-बार बचने पर बल देते हैं । दिनकर प्रेम की व्यावहारिक लौकिक उच्चता में, प्रसाद उसके दिव्योत्कर्ष में, और पन्त उसमें दिव्यता के अवतरण में विश्वास रखते हैं ।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी के ये तीनों ही महाकाव्य विचार प्रधान हैं । इन तीनों में से सर्वाधिक महाकाय है यह 'लोकायतन' ! किन्तु इसका महत्त्व महाकाय होने के कारण नहीं है । प्रबन्धात्मकता एवं वर्णन कौशल के कारण भी इसका महत्त्व नहीं है । इसका महत्त्व है विश्व के सम्मुख—भारत के सम्मुख भी—उपस्थित समस्या के समाधान के प्रयत्न के कारण ! यह समाधान, अन्य दोनों काव्यों के समाधान से भिन्न होकर भी और सामान्य से कुछ अधिक दुर्बोध होने पर भी, एक विशिष्ट दर्शन पर आधारित है । कवि ने इसे बहुत विस्तार से और पूरा फैलाकर समझाने का प्रयास किया है । उसकी विशाल दृष्टि से युग का कोई कोना कदाचित् ही छूटा होगा ।

ऐसी विशाल पकड़ के काव्य को 'महाकाव्य' और ऐसे काव्य के कृती को 'महाकवि' ही कहना उचित है । इसे रचकर पंत ने अपने महाकवि

नाम को सार्थक कर दिया है। महाकवित्व महाकाव्य के कारण नहीं स्थायी होता ! वह तो होता है महान् कवित्व के कारण ! वह उनमें आरम्भ से ही विद्यमान है। इसे काव्य ने तो उसका महत्त्व भर ही बढ़ाया है।

कलापक्ष—पंत के 'लोकायतन' का एक महत्त्व और भी है। उसमें कवि की कला निर्बन्ध होकर सामने आयी है। 'वीणा' से लेकर 'वाणी' तक की सारी कला अपने पूर्ण चमत्कार के साथ इसमें उभर कर सामने आई है। उत्तमोत्तम प्रकृति चित्रण 'वीणा' की याद दिला देते हैं। समाजवाद पूंजीवाद, आदि की चर्चा कवि के प्रगतिवादी स्वरूप को स्पष्ट करती है। दार्शनिक विवेचन के स्थल उसके छायावादी रूप और अरविन्द से प्रभावित रूप को स्पष्ट करते हैं।

अलंकारों और भाषा के विषय में कुछ भी नई बात नहीं कही जा सकती। 'पंत की कला' पर स्वतन्त्र विचार में अंकित सभी तथ्य यहां भी लागू होते हैं। यहां हम एक दो बात ही कहेंगे।

(१) कवि ने एक स्थान पर 'अवाऽक्' का प्रयोग किया है। यहां 'ऽ' का प्रयोग चिन्त्य है। बहुत विचार करने पर भी हम इसका महत्त्व नहीं समझ सके। अवग्रह अर्थ, मात्रा, या यति पर आधारित होते हैं। यहां इन तीनों में से एक भी बात लागू नहीं होती।

(२) दो चार स्थानों पर कोमलता के आधान के लिए 'ण' को 'न' में रूपांतरित करने का अभ्यास गलत प्रयोग कर गया है। 'रंगिणि' (वीणा) कहने वाला कवि जब 'तरंगिनि' कहता है, तब, नियम-विपरीत ही नहीं, अभ्यास-विपरीत भी दोष हो जाता है।

(३) अंग्रेजी के मुहावरों का अभ्यास कवि से अब भी नहीं छूटा है। अंग्रेजी के 'अण्डर दि सन्' का अनुवाद कवि करता है 'सूरज के नीचे' :

बोला हरि सूरज के नीचे, नया कहां क्या होता भाई ?

परन्तु ऐसे दोष जब अपवाद रूप में पाये जाएं, तब गुण ही बनकर आते हैं। उनसे कवि का अपना वैशिष्ट्य सिद्ध होता है।

यथार्थ और आदर्श—यह काव्य निश्चय ही एक आदर्श की योजना लेकर बढ़ा है। पर इसमें यथार्थ के प्रति कवि पहले की अपेक्षा अधिक सतर्क रहा है। उसके कई वर्णन अत्यन्त सचेतन रहे हैं। भारत और संसार की वर्तमान स्थिति का जो यथार्थ और लोमहर्षक चित्र कवि ने खींचा है, वह अत्यधिक व्यापक एवं सर्वग्राही है।

इस प्रकार यह काव्य कवि-जीवन में एक नया मोड़ लेकर आया है। पंत अब केवल 'महाकवि' नाम को ही सार्थक नहीं कर गए हैं, बल्कि भविष्य के लिए भी उन्होंने नई सम्भावनाएं जगा दी हैं।

———

११

पन्त सौन्दर्य के कवि हैं

प्रकृति मधुर—अपनी आरम्भिक कविता यात्रा से लेकर पंत काफ़ी आगे बढ़ आए हैं। तब से उन्होंने अनेक परिवर्तन देखे और सहे हैं। उनका काव्य इस बीच कई सोपानों पर से गुजरा है। उनके काव्य का आरम्भ प्रकृति के कोमल काव्य से हुआ था, पर आज वे प्रकृति की अपेक्षा मानव जीवन के सौन्दर्य के कवि बन चुके हैं। कह सकते हैं कि प्रकृति का कोमल कवि पंत आज स्वयं प्रकृति-मधुर हो उठा है। उसके काव्य में, उसकी भाषा में, और उसकी भावना में सौन्दर्य ने कुछ इस प्रकार से प्रवेश पा लिया है कि उसका अध्ययन विश्लेषण के द्वारा कर पाना असम्भव सा हो गया है। तर्क और युक्ति का स्थान स्वाभाविक जीवन-दर्शन ने ले लिया है एवं वर्णनों का स्थान संकेतों ने। उसकी भाषा में यदि कुछ जटिलता रह भी गई है, तो वह अब अखरती नहीं। प्रकृति उसके काव्य का अभिन्न अंग बन चुकी है, यद्यपि केवल प्रकृति-वर्णन के लिए उसकी कविता बहुत पहले से सीमा-संकोच छोड़ बैठी है।

आज उसकी कविता एक विस्तृत दायरे में होकर बढ़ रही है। युग का प्रतिनिधित्व न करके भी वह 'युग-कवि' कहलाने का अधिकारी बन चुका है। उसका बुद्धिवाद और उसके जीवन की तटस्थता अब भी उसके काव्य से अलग नहीं हुए हैं। इस भी उसके काव्य में सौन्दर्य का एक नया स्रोत फूट पड़ा है। भाषा, छंद, अनुप्रास और अलंकार के बन्धनों को तोड़कर उसका काव्य एक आत्मिक सौन्दर्य से अभिभूत हो उठा है, और उसमें से 'बूढ़े चाँद' का नया प्रकाश फैलने लगा है। बढ़ती आयु के थपेड़ों ने कवि की शक्ति का ह्रास करने के स्थान पर उसे अधिकाधिक बल दिया है, और उसकी कविता का प्रवाह अधिकाधिक बढ़ा ही है।

काव्य-जीवन प्रथम सोपान—पंत के काव्य-जीवन को हम कुछ सोपानों में बांट आए हैं। इनमें से **प्रथम सोपान** 'छायावादी-काव्य' के नाम से कहलाता है। इसके भी बाद में दो सोपान बन जाते हैं। प्रथम में कवि केवल ऐन्द्रियक या बाहरी सौन्दर्य से ही प्रभावित रहा है, जबकि द्वितीय में वह आत्मिक सौन्दर्य की खोज में बढ़ निकला है। प्रथम चरण को हमने फिर से तीन भागों में बांटा है: प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य से मुग्ध, नारी के बाह्य सौन्दर्य से प्रभावित, और सौन्दर्य के बाह्य आकर्षण मात्र से प्रभावित। सौन्दर्य की इन बाहरी सीमाओं में उलझने के बाद ही अपनी प्रौढ़ता के साथ, कवि ने यह अनुभव किया कि बाहरी रूप नाशवान् है। वह आन्तरिक सौन्दर्य को खोजने के लिए लालायित हो उठा।

इसीलिए **द्वितीय भाग** का प्रथम चरण वह बैठता है, जहां कवि बाह्य सौन्दर्य की नश्वरता पर ही बल देता है। इसके द्वितीय चरण में वह मन की शक्ति को पहचानना शुरू करता है, और उसे विकसित करने के लिए साधना पर बल देता है। इस अवस्था का तृतीय चरण वह है, जहां कवि अन्ततः मानव-मात्र में समता के एक सूत्र को खोज निकालता है। यह सूत्र है आत्मा की अविनश्वरता और एकता। समस्त सृष्टि में एक ही तत्त्व चारों ओर अनादि और अनन्त रूप में छाया हुआ है। परन्तु कवि जानता है कि आत्मा के इस सौन्दर्य को केवल दर्शन या युक्ति-जाल की सहायता से नहीं पाया जा सकता। हम कितना ही पढ़ लें और कितने ही निष्कर्ष निकाल लें, आत्मा को खोज निकालना केवल उसके स्वरूप को समझ लेने मात्र से ही, सम्भव नहीं है। उसके लिए आवश्यक है कि हम उसकी सत्ता की अनुभूति अपने मन में लें। इसी-लिए कवि 'संध्या-तारा' नामक कविता में इस बात पर बल देता है कि आत्मा की इस एकता को और उसकी सार्वत्रिक अनुभूति को पाने का एकमात्र उपाय यह है कि हम अपने ही मन में पहले अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचान लें। जब कोई व्यक्ति अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचान लेता है, तभी वह विश्व व्याप्त आत्मा के सौन्दर्य को भी

पहचानने में समर्थ हो पाता है। इस प्रकार 'छायावादी सोपान' में कवि केवल सौन्दर्य का ही उपासक रहा है, यद्यपि उसकी दृष्टि बाह्य से अन्तः की ओर होती गई है, और उसके वर्णनों में अनुकरण की अपेक्षा दर्शन और तर्क की प्रधानता आती गई है। प्रथम सोपान प्रधानतः 'सौन्दर्य की खोज' का ही कहला सकता है।

द्वितीय सोपान—कवि जीवन का दूसरा सोपान 'प्रगतिवादी' सोपान के रूप में कहा जा सकता है। इस सोपान में कवि आधुनिक समाजवाद की विचारधारा से प्रभावित रहा है। उसने मार्क्स और लेनिन के दर्शनों का अध्ययन किया। इस अध्ययन के बीच में उसकी यह धारणा और भी पुष्ट होती गई कि मानव की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा करके वह अपने मानव होने के कर्तव्य को पूरा नहीं कर रहा। उसने यह अनुभव किया कि उत्थान की बातें कोरी बातें ही रह जायेंगी, यदि हम मनुष्य के आर्थिक और सामाजिक उत्थान पर ध्यान न दे सके। इस सारे सोपान को हम तीन चरणों में विभक्त पाते हैं। **प्रथम चरण** 'युगान्त' में दिखाई देता है, जहां कवि मानव और मानवता की ओर गांधीवाद और रवीन्द्र के मानवतावाद से प्रभावित होकर खिंचता है। **द्वितीय चरण** 'युगवाणी' में आता है, जहां कवि प्रगतिवाद और समाजवाद के प्रति अपनी आस्था सैद्धान्तिक और व्यापारिक रूप में प्रकट करता है। **तृतीय चरण** वह 'ग्राम्या' का है, जिसमें कवि ने किन्हीं सिद्धान्तों पर बहुत अधिक बल नहीं दिया। बल्कि यहां जन-जीवन के बहुत से चित्र अपने पूर्ण परिपार्श्व के साथ चित्रित किए गए हैं। यहां पर कुछ ऐसे विषय भी गृहीत हुए हैं, जिनको तर्क और युक्ति के बल पर सिद्ध किया गया है। फिर भी उनमें सैद्धान्तिकता नहीं आ पाई है।

यदि एक दृष्टि में कहा जाए, तो यह सारा चरण मानव के बाह्य सौन्दर्य को, उसके पूर्ण परिपार्श्व में, जांचने का एक बृहत् प्रयासमात्र है। कवि सबसे पहले मानव को सुन्दरतम घोषित करता है, और उसकी

उपेक्षा की निन्दा करता है। तब वह सिद्धान्तों के बल पर मनुष्य की सामाजिक अवस्था को सुधारने की पुकार मचाता है। परन्तु अन्त में उसे मानव के वर्तमान परिपार्श्व में भी उसके मांसल सौन्दर्य के दर्शन हो जाते हैं। वह दलितों, शोषितों, और उपेक्षितों के जीवन में से ही एक नये आत्मिक सौन्दर्य के भी दर्शन कर लेता है। वे उसे मानवता के सच्चे प्रतिनिधि दिखाई देते हैं। उनके द्वारा ही वह नये ढंग के समाज की रचना में विश्वास रखता है। उन्हें वह संस्कृति के नये मूल्यों की प्रतिष्ठा करने से अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है। स्पष्ट है कि कवि अपनी इस यात्रा में भले ही काव्य के बाहरी उपादानों और प्रकृति के सौन्दर्य से आकृष्ट न हुआ हो, तो भी वह मानव की भौतिक और आत्मिक सुन्दरता से आकृष्ट अवश्य हुआ है। उसने मानव-जीवन की वर्तमान परिस्थितियों में से ही सौन्दर्य को खोज निकाला है।

तृतीय सोपान—कवि जीवन का तीसरा सोपान अरविन्द के दर्शन से प्रभावित कहा गया है। इस सोपान में प्रत्यक्षतः कवि दार्शनिक युक्तिजाल में अधिक उलझता दीखता है। पर वास्तव में वह एक विशेष सौन्दर्य-भावना से आकृष्ट होकर चल रहा है। उसे यह विश्वास हो चुका है कि मनुष्य की भौतिक परिस्थितियों में अन्तर आ जाने पर भी उसकी आत्मिक उन्नति तब तक सम्भव न होगी, जब तक मनुष्य स्वयं अपनी आत्मा को उन्नत न करेगा। इसे हम दूसरे शब्दों में सकते हैं कि समाजवाद समष्टि की उन्नति पर बल देता है, जबकि योगिराज अरविन्द के अनुसार व्यक्ति जीवन के उत्थान के बिना सामाजिक जीवन का उत्थान असम्भव है। व्यक्ति-जीवन का सामूहिक उत्थान भी हो सकता है, पर उसके लिए धरती पर एक ऐसे दिव्य जीवन के विकास की आवश्यकता है, जिसे हम सामान्य भाषा में ऋषि-जीवन कह बैठते हैं। अरविन्द का यह विश्वास रहा कि इस जीवन को धरती पर लाने के लिए कुछ ऐसे विशाल व्यक्तित्व हर देश में होने चाहिएं, जो सम्पूर्ण प्रकाश को अपने मन के भीतर लेकर जन-जन तक पहुंचा सकते हों। कवि ने भी यही

आस्था अपने काव्य में व्यक्त की है।

इस सोपान का आरम्भ उसके भयंकर रोग से आरम्भ होता है। इस रुग्णता में वह भौतिक जीवन और वैज्ञानिक सफलताओं पर से विश्वास खो बैठता है। उनके स्थान पर आत्मिक शक्तियों की विजय में उसका विश्वास जग जाता है। इस विश्वास को जगाने में अरविन्द के दर्शन ने बड़ा भारी कार्य किया। उसे इस दर्शन में जीवन की सच्ची शान्ति मिलती हुई दिखाई दी। उसका विश्वास बढ़ चला कि जीवन का सत्य पाने के लिए इस प्रकार के दिव्य जीवन के विकास की ही आवश्यकता है। इसीलिए हम कवि को यहां दिव्य जीवन का राग अलापते देखते हैं।

इस के भी चार चरण माने जा सकते हैं। **प्रथम चरण** में कवि अरविन्द के सिद्धान्तों का उद्घोषक रहा है। **द्वितीय चरण** में वह उस दर्शन के व्यावहारिक महत्व को आंकने में लगा रहा है। **तृतीय चरण** इन सबसे भिन्न है। यहां आकर कवि अरविन्द दर्शन के आधार पर ही अपनी एक स्वतंत्र दृष्टि को विकसित कर लेता है। वह कला राजनीति और आर्थिक जीवन के जटिल प्रश्नों का उत्तर एक नये दृष्टिकोण से खोज निकालता है। अब प्रथम बार उसके जीवन में उसकी आस्था और उसकी कला का मेल हो जाता है। कवि अनेक वर्ष तक इस पथ से विचलित नहीं होता। उसने कला के सही सौन्दर्य और उसकी उपयोगिता को भी इसमें से ही खोज निकाला है। इसलिए कवि का अपना दृष्टिकोण प्रथम बार स्वतंत्र रूप ग्रहण करके बढ़ता है।

इन सब सोपानों को पार करके आज कवि जिस **चरण** में पहुंचा है, वहां उसे जन-जीवन को एक नई दृष्टि से देखने का अवसर मिला है। उसके लिए कला, जीवन और जगत् एक-दूसरे के पूरक और सहायक हो उठे हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है। इसलिए अब वह नये प्रयोगों से उलझकर भी नई-नई बातों के अनुकरण में विश्वास नहीं रखता। बल्कि, उसका पथ सर्वथा स्वतन्त्र रूप में बढ़ा है। यह पथ एक ऐसी भावना, शैली और भाषा से युक्त है, जहां कवि को विशेष चुनाव में

उलझना नहीं पड़ा है, और न ही वह किन्हीं सिद्धान्तों को खोजने बढ़ा है। बल्कि इसके विपरीत यहां वह तटस्थ रहकर भी एक ऐसी दृष्टि को पा गया है, जो स्वयं में सुन्दर है। कवि अपने सम्पूर्ण कवि-जीवन में बौद्धिक दृष्टि से तटस्थ और सजग रहा है। इसी कारण वह आरम्भ से अन्त तक युग के साथ एकाकार नहीं हो सका। पर तो भी एक सजग विचारक की भांति उसने युग पर अपनी दृष्टि गड़ाए रखी है, और इसी कारण वह तटस्थ दृष्टि से उस पर आलोचक की भांति विचार करता रहा है।

आज के जीवन में भी वह उस तटस्थ विचार की अवस्था से मुक्त तो नहीं हुआ है, किन्तु युग और उसके बीच का अन्तर कुछ कम अवश्य हो गया है। प्रथम बार कवि को अपना संकुचित दायरा छोड़कर कुछ उत्तर-दायित्व के सेवा-कार्यों की ओर लगना पड़ा है। स्वभावतः उसे एक व्यापक जन-जीवन को देखने का अवसर मिला है। ऐसे समय कवि की सजग दृष्टि ने यदि एक नया पथ खोज निकाला है, तो उसमें अचरज ही क्या ? इस चरण में भी कवि जिस सौन्दर्य को पाने में समर्थ में हुआ है, वह सौन्दर्य सही रूप में 'नाम-रूप-हीन सौन्दर्य' कहा जा सकता है। कवि जैसे अपने जीवन के अब तक के अपनाए गए वादों को तिलांजलि देकर स्वयं युग-द्रष्टा की भांति एक दिव्य सौन्दर्य के दर्शन कर चुका है। यह सौन्दर्य न आत्मा का सौन्दर्य है, और न ही देह का ! प्रकृति से भी इसका सीधा सम्बन्ध नहीं है। पर तो भी यह सौन्दर्य अवश्य है। सच तो यह है कि कवि आरम्भ से अन्त तक सौन्दर्य का ही उपासक रहा है। वह कठिन से कठिन पथ पर बढ़ा और उसने कठिन से कठिन भावना को अपनाया, पर तो भी वह उन सब के बीच से एक अन्तर्हित सौन्दर्य को खोज निकालता रहा है।

इस प्रकार कविता के भावना-पक्ष में उसकी यात्रा सौन्दर्य की खोज में ही चलती रही है।

कला-पक्ष—कवि ने आरम्भ से ही कविता को एक नई भाषा और

एक नई शैली से अलंकृत किया। तब से अनेकों युग बदल गए, पर कवि नवीनता की अपनी इस खोज को समाप्त नहीं कर पाया। उसके आरम्भिक बाल-हृदय ने जिस भाषात्मक और कलात्मक सौन्दर्य का आविष्कार किया था, वह उसके विषय के अनुकूल था। आज उसके प्रौढ़ मस्तिष्क ने अपनी कला के लिए जिस भाषा और शैली को अपनाया है, उसका अपना ही स्वतन्त्र और पृथक् महत्व है। आज कवि को नई उपमाएं और नई शब्दराशि खोजने में प्रयास नहीं करना पड़ता। प्रयास की यह मात्रा उसमें आरम्भ से बहुत कम रही है, और अनायास ही उसकी भाषा विषय को अपने में ढालने में समर्थ रही है, तो भी आरम्भिक भाषा में मुहावरों और कुछ शब्दो के घड़ने में उसे यत्किंचित् यत्नशील रहना पड़ा है। ऐसा इस कारण भी हुआ कि भाषा की बनी-बनाई कोई विशिष्ट सरणि उस समय की कविता के पास नहीं थी। कवि को कुछ अन्य साथियों की भांति इस दिशा में स्वयं ही पथ खोजते हुए बढ़ना पड़ा। यह किसी सामूहिक प्रयास के द्वारा सम्भव न था। इसीलिए प्रत्येक कवि अपने पथ को स्वयं चुनने में जुट गया। उस समय के चारों प्रसिद्ध छायावादी कवियों में से, आरम्भिक कविता की दृष्टि से, 'पंत' ही ऐसे ठहरते हैं, जिनकी भाषा, महादेवी के समान मधुर और निराला के समान बलशालिनी न होकर भी, अत्यंत कोमल, विषयानुकूल एवं प्रवाहमय ठहरती है। सच तो यह है कि इस दिशा में वह स्वयं बेजोड़ रहे हैं।

भाषा की यह विशेषता उसके सारे कवि जीवन में केवल कुछ स्थानों पर ही छूट पाई है। ऐसा तभी हुआ है, जब कवि किसी प्रकार की दार्शनिक उलझनों में उलझ गया है। ऐसी स्थिति प्रसाद, निराला, और महादेवी के काव्य में भी जगह-जगह पाई जा सकती है। इसका अर्थ यह नहीं कि पंत कला की दृष्टि से सौन्दर्य के उपासक नहीं रहे। ऐसी कुछ एक कविताओं को छोड़कर कवि दर्शन जैसी कठोरतम भूमि पर भी अपने लिए कुछ न कुछ कोमलता चुनता ही रहा है। प्रकृति उसका साथ नहीं छोड़ सकी है, और न ही वह प्रकृति को भुला पाया है। इसलिए भाषा की

स्वाभाविक कोमलता का प्रेरणा-स्रोत उसके काव्य में सदा ही साथ-साथ चलता रहा है। यह बात समझने के बाद ही हम इस सत्य को भी जान पाएंगे कि कवि रंग, नाद-प्रभाव, अनुप्रास, आदि की सूक्ष्म चेतना से क्यों प्रभावित रहा है।

यहां यह बात अधिक ध्यान देने लायक हो उठती है कि आरम्भ से ही कवि कल्पनाओं और उपमाओं के विषय में भी सर्वथा मौलिक होकर ही बढ़ा है। यही कारण है कि उसकी सम्पूर्ण कल्पनाएं और नये उपमानों का चुनाव हिन्दी साहित्य की एक अभूतपूर्व निधि बन गये हैं। यह बात आरम्भ से अन्त तक रही है। अपनी अन्तिम कृतियों में कवि ने प्रयोगवादियों के ढंग पर नये से नये और अधिकतम उपेक्षित प्रतीकों को लेकर भी जिस प्रकार अपनी सुन्दर कल्पना शक्ति और नये उपमानों के चुनाव का परिचय दिया है, उससे स्पष्ट लगता है कि कवि की कला-चेतना स्वभावतः ही सुन्दर है। उसे सौन्दर्य की दिशा में मोड़ने के लिए कवि को कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा है। यही कारण है कि भाषा के कुछ कठिन शब्द उसके काव्य के प्रवाह को रोक नहीं पाए, और उसका काव्य-सौन्दर्य छंद, ध्वनि और शब्दचयन की सीमा से मुक्त होकर भी, कला के क्षेत्र में, सौन्दर्यपथ का अनुगामी रहा है।

कहा जा सकता है कि पंत मूलतः सौन्दर्य के ही कवि हैं।

१२

पन्त की कला

आज अनेक सोपानों को पार करने के बाद कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत जिस भूमिका पर पहुंचे हैं, वहां उनकी कला पर विचार करना अस्वाभाविक-सा लगता है। जहां पहुंच कर कवि का काव्य स्वयं ही कला बन जाता है, वहां उसकी कला पर पृथक् से विचार करना असंभव हो जाता है। फिर भी किसी कवि के काव्य पर विचार करते हुए उसकी कला पर विचार करने की एक परिपाटी बन चुकी है।

हम यहां पर कवि पंत की निरन्तर विकसित होने वाली इस कला पर ही विचार करेंगे।

विद्रोह और भाषा की नवीनता—छायावादी काव्य पर विचार करते हुए उसे प्रायः द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया में उत्पन्न माना जाता है। छायावादी कवियों ने भी अपनी विवेचना में इस तथ्य पर बहुत अधिक बल दिया है। सत्य यह है कि पंत जैसे कवियों ने जो कुछ भी लिखना आरम्भ किया, वह द्विवेदी युग के काव्य की कठोरता के विरुद्ध विद्रोह के रूप में उतना अधिक न था, जितना कि अपने वक्तव्य विषय के अनुकूल शैली खोजने के प्रयास के रूप में। वक्तव्य विषय पहले काव्य से भिन्न तो न था, किन्तु कवि भावना के आवेश के नाम पर स्वतन्त्रता और उन्मुक्ति की एक भावना से व्यथित था। वह किसी भी रूप में, स्वयं को हर बंधन से मुक्त करके, अपने हृदय में उठने वाली भावनाओं को पूर्णतः अभिव्यक्त करना चाहता था।

देश में स्वतन्त्रता आन्दोलन चल ही रहा था। विदेशी साहित्यों और उनके नवीनतम आन्दोलनों से भी परिचय बढ़ता जा रहा था। पर साथ ही कवि के अपने बौद्धिक विकास ने उसे साहित्यिक विद्रोह के लिए

भी चेता दिया था। ऐसे समय नया उठने वाला साहित्यकार जिस भावना को लेकर बढ़ा, उसके लिए अनुकरण योग्य कोई आदर्श भाषा उसे न मिल पाई। स्वभावतः उसे अपना पथ स्वयं बनाना पड़ा। ऐसे पथ-निर्माण को विद्रोह कहना उचित नहीं। यदि यह विद्रोह ही था, तो यह उस प्रकार के विद्रोहों में से एक था, जिन्हें इन कवियों ने भावना, कला और विषय के क्षेत्र में अपनी विद्रोही कवि-प्रकृति के कारण किया था।

आरम्भ से ही हर सच्चा कवि विद्रोही माना जाता रहा है। जो अपने युग की अथवा प्राचीन युगों की परम्पराओं को तोड़ कर अपनी भावनाओं को पूर्णतम रूप में अभिव्यक्त करने के लिए बेताब रहता है, और उसके लिए एक नया पथ खोज निकालता है, वही सच्चा कवि कहलाने का अधिकारी होता है। द्विवेदी जी ने अपने समय के कवियों के लिए कला और विचारों के क्षेत्र में कुछ निश्चित आदर्श स्थापित करने चाहे। ऐसी बात कुछ अंश तक उचित भी थी। तब तक खड़ी बोली कविता के लिए छन्दों आदि का निश्चित चुनाव नहीं कर पाई थी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उस युग के सम्पूर्ण कवियों ने आंख मूंदकर इस नीति का अनुसरण किया। सत्य यह है कि अनेक कवियों ने स्वयं अपना पथ निश्चित करने की ओर अनेक स्थानों पर झुकाव दिखाया।

छायावादी कवि उन्हीं स्वतन्त्रचेता कवियों में से थे। पर इनमें से कुछ का परिचय बंगला और अंग्रेजी के विशाल साहित्यों से भी था। इसके साथ ही इनमें से अनेक अपने पुराने साहित्य से भी परिचित थे। संस्कृत साहित्य का अध्ययन भी उन्होंने नई दृष्टि से ही किया था। इसलिए उनके काव्य में और उनकी अभिव्यक्ति में, पूर्णता की खोज में बढ़ते हुए, यह स्वाभाविक था कि कला नवीन रूप ग्रहण कर लेती।

एक अन्तर—'प्रसाद' नवीनता और प्राचीनता के संगम पर स्थित हैं। परन्तु महादेवी, निराला और पंत की कविताएं अपने ही नये पथ को निश्चित करती हुई बढ़ी हैं। मलतः प्रसाद की भाषा और भावना से वे अभिन्न थीं, पर फिर भी नवीनता के प्रति उनमें आग्रह कुछ इतना

अधिक था कि उन्होंने किसी भी क्षेत्र में परम्परा का अनुगमन करना स्वीकार न किया। यही कारण है कि हमें उनकी आरम्भिक कविता में अपने युग की अन्य कविता मे एकदम स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है।

आरम्भिक महत्त्व—यद्यपि निराला, महादेवी और पंत तीनों एक नये पथ पर बढ़े, और भाषा एवं कला की दृष्टि से तीनों का ही समान महत्त्व ठहरता है, पर तो भी एक दृष्टि से पंत इन सबसे अलग जा बैठते हैं। वह है उनकी कल्पना दृष्टि। पंत कल्पना के विषय में भी परम्परा के द्रोही हैं। इस विषय में निराला और उनमें अधिक साम्य कहा जा सकता है। परन्तु निराला जहां ओज के कवि ठहरते हैं, वहां पंत कोमलता के कवि हैं। दोनों ने दुनियां को खुली आंखों देखा है। निराला संसार की विषमताओं और सौन्दर्यों को एक दार्शनिक की दृष्टि से देखना आरम्भ करते हैं, जबकि पंत केवल प्रकृति के रंगों और सौन्दर्य के बाहरी आकर्षणों से खिंचकर चलने में ही अपनी पूर्णता स्वीकार करते हैं। विस्तृत दृष्टि को लेकर निराला एक व्यापक क्षेत्र में बढ़ गए। परन्तु प्रकृति के प्रति अपनी सीमित दृष्टि में भी असीम सौन्दर्य को भर लाने वाले पंत को बहुत कुछ ऐसा देखने को मिला, जिसके लिए उपमाएँ, भाषा और अब तक की प्रयोग की जाने वाली शैलियां अनुपयुक्त और अनुचित जँचने लगीं।

पंत की ये नई उपमाएं और शैलियां उनके हृदय की नारी-प्रकृति से भी अधिक प्रभावित हैं। एक ओर वह जीवन से तटस्थ रहकर सौन्दर्य को निहारना चाहते हैं, और दूसरी ओर वह स्वयं लाजवन्ती लता से भी अधिक संकोची हैं। उनके स्वभाव का यह रूप उसकी कला में भी पूरी तरह अनुकृत हुआ है। उनकी कला में संकोच और कोमलता साथ-साथ बढ़ी है। उन्होंने उपमानों के द्वारा प्रकृति का वर्णन न करके उसे ही एक सजीव रूप दे देना उचित समझा है। प्रकृति को सजीव पाकर वह एक नवीन आल्हाद से भर उठते हैं। उनकी भावनाएं अधिक से अधिक विस्तार में जाकर अपनी दृष्टि में आने वाली हर चीज

को ग्रहण करने के लिए आतुर हो उठती हैं। ऐसे स्थानों पर कवि स्वभावतः भावनाओं के सदृश कला के निर्माण में समर्थ हो जाता है।

भाषा

कोमल और संकोची—कवि की आरम्भिक भाषा के विषय में हम ऊपर कह आए हैं कि वह विषयानुकूल अत्यन्त कोमल और संकोच से युक्त रही है। उसमें शब्द अधिक से अधिक छोटे, संयुक्ताक्षरों से रहित, और कठोर ध्वनियों को बचाते हुए चले हैं। अनुप्रासों के चुनाव में कवि जानबूझ कर प्रवृत्त नहीं हुआ है। फिर भी नाद-प्रभाव की दृष्टि से उसकी भाषा अनुप्रास का सा वातावरण सर्वत्र ही उपस्थित कर देती है। उसकी इस आरम्भिक भाषा का एक सौन्दर्य यह भी है कि उसने अनुनासिकों का प्रयोग पर्याप्त किया है। यद्यपि ऐसी ठूँस-ठाँस उसने अनावश्यक रूप में नहीं की है, तो भी इसका प्रवेश सर्वत्र हो ही गया है।

मेरे मानस का आवेश, तेरी करुणा का उन्मेष,

और, **तुहिन बिंदु बनकर सुन्दर, कुमुद किरण से सहज उतर,**

या, **कुमुद कला बन कल हासिनी, अमृत प्रकाशिनि, नभ वासिनि**

और, **प्रथम रश्मि का स्पर्श कर नित, स्वर्ण वस्त्र करके परिधान,**

तुम आश्वासन देते हो, प्रिय जग को उज्ज्वल और महान।

साभिप्राय-विशेषण—आरम्भिक कविता में पंत की भाषा की यह भी विशेषता रही है कि वह साभिप्राय विशेषणों से युक्त रही है। प्रतीक रूप में तो बहुत अधिक कहा गया है :

जब मैं थी अजात प्रभात, तेरे मानस की जलजात।

यहाँ कवि एक ओर अजात प्रभात को प्रतीक के रूप में प्रयोग कर रहा है, तो दूसरी ओर जलजात, केवल तद्गुण अलंकार की पूर्ति के लिए प्रयुक्त न होकर, साभिप्राय विशेषण के रूप में भी प्रयोग हुआ है। यह बात अनेक स्थान पर देखी जा सकती है। विशेषकर जब 'विशेषण-विपर्यय' के रूप में कवि प्रयुक्त होने वाले विशेषणों में एक विशिष्ट संदेश-वाहकता भर देता है।

अधरों पर बिम्बित छविमय !

में छविमय साभिप्राय रूप में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु,

विधुर उर के तारों में आज गा रहे हैं क्या अस्फुट गीत ?

'विधुर' और 'अस्फुट' विशेषण होकर भी में, अपने विशेष्य के साथ प्रयुक्त न होकर दूसरे स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं। उनके ऐसे प्रयोग से भावनाओं में एक गहराई ही आई है। 'निठुर वाणी का ढंग' में 'निठुर' का प्रयोग भी इसी प्रकार का है।

विषयानुकूलता—भाषा की सबसे बड़ी विशेषता विषयानुकूलता में होती है। यदि कवि को शब्द विषयानुकूल मिलते रहें, तब चुनाव की कठिनाई, अथवा भाषा की कठोरता, का प्रश्न ही नहीं रह जाता। 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि' में 'रंगिणि' शब्द कवि का अपना ही घड़ा हुआ है। पर फिर भी इसका प्रयोग कितना सटीक हुआ है! इसी कविता में भ्रमरों के लिए 'मधुबाल' शब्द का प्रयोग भी अवलोकनीय है।

युगान्त तक—परन्तु भाषा की यह परम्परा छायावाद युग की समाप्ति तक बहुत कम पलट पाई है। 'ग्रंथि', 'पल्लव', 'गुंजन' और 'युगान्त' तक भी भाषा का यही रूप चलता रहा है। कवि कहीं-कहीं दार्शनिक अथवा तर्क-प्रधान युक्तियों में उलझकर कठोर अथवा अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग भी कर बैठता है। अन्यथा उसके शब्द बिना समास के और सरल रूप में चलते हैं। 'अतल-विश्व-शोभा-वारिधि' एक ही शब्द के रूप में कवि ने प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'जरा-जन्म-भय-मरण-शून्य' में भी लम्बा समास आ गया है। परन्तु ऐसा बहुत कम स्थानों पर हुआ है। अन्यत्र कवि की वह पुरानी परम्परा ही चलती आई है, जिसमें छोटे से छोटे शब्दों के द्वारा वह बड़ी से बड़ी बात कह देता है :

नव रूप गंध, रंग, मधु, मरंद नव आशा, अभिलाषा अमंद।

इस प्रकार के सरस पद कवि के काव्य में सर्वत्र बिखरे हुए हैं।

'युगान्त' की अपेक्षाकृत कठोर कविताओं में भी कवि कठिन समास प्रयोग नहीं करता।

जो है समर्थ, जो शक्तिमान, जीने का है अधिकार उसे,
उसकी लाठी का बैल विश्व, पूजता सभ्य संसार उसे।

इस पद्य में शब्द कोमल नहीं हैं, किन्तु समास भी कोई नहीं है। इसी काव्य की एक अन्य कविता में कवि कहता है :

हम एक ज्योति की बहु बूँदें, जग कर-तल में चू-चू झरते।

अथवा, रजत दिवस, स्वर्ण प्रात, तारा शशि खचित रात,

अथवा, झुक-झुक मुख चूम-चूम, तृण-तृण कण प्रीति भरण।

इन उदाहरणों में स्पष्ट है कि कवि किसी कठोर भावना में भी भाषा की कोमलता को बचाए रखता है। उसके शब्द, कुछ अन्य कवियों की भांति केवल निश्चित और गिने-चुने ही नहीं हैं, बल्कि वह उन्हें नये से नये रूप में और नये से नये स्थान पर प्रयोग करता रहता है। शब्द कोष उसके लिए कोई निश्चित सीमा बनकर नहीं रह जाता, पर वह बिना मतलब के ही नये शब्द भी नहीं घड़ता रहता। 'प्रलयंकर' का 'प्रलयकर' और 'अनिर्वचनीय' का 'अनिर्वच' आदि में रूपान्तरित हो जाना इसी प्रकार के स्वाभाविक परिवर्तन को बताता है।

अर्थ-प्रयोग—अर्थ भावना की दृष्टि से भी यह स्मर्त्तव्य है कि कवि आरम्भ से ही शब्दों को सीमित अर्थों में प्रयोग नहीं करता रहा है। उसके नये-नये प्रयोग भावना की व्यापकता और अर्थ विस्तार के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'नवल', 'नव' आदि का 'सुन्दर' के अर्थ में तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक शब्दों का अप्रचलित अर्थों में प्रयोग कवि की व्यापक शक्ति का परिचय देता है।

प्रगतिवाद : बंधनहीनता—भाषा के इस प्रश्न पर विचार करते हुए विचारणीय स्थल कवि के प्रगतिवाद का चरण बन उठता है। कवि उस अवस्था में, कम से कम अपनी घोषणा में, अलंकार और छंद आदि के बन्धन से हीन होकर चलने की बात कहता है। हम कह आए हैं कि 'युगवाणी' की कुछ कविताओं को छोड़कर अन्यत्र वह इस प्रकार के प्रयास में सर्वथा असफल रहा है। उसने छंद भी नये घड़े हैं, और अनुप्रासों और

अलंकारों के प्रयोग में भी कमी नहीं दिखाई है। भाषा भी केवल उन स्थानों पर ही जटिल रही है, जहां वह राजनैतिक या सामाजिक वादों के आवर्त में पड़कर गहरे विचार में डूब जाता है, अन्यत्र नहीं। फिर भी वह कठिन समासों का प्रयोग नहीं करता। उस अवस्था में भी उसके अधिकांश चित्र ऐसे ही हैं, जिनमें उसने सरलतम भाषा-शैली को अपनाया है। युगवाणी का ही एक चित्र हम प्रस्तुत करते हैं, जहां शब्द कुछ कठिन अवश्य हैं, पर फिर भी उनमें कोमलता और संक्षेप विद्यमान है :

दिक् विदीर्ण कर, भर गुरु गर्जन, चीर तड़ित् से अन्ध आवरण,
उमड़ घुमड़, घिर रूप झूम, हे, बरसाओ नव जीवन के कण,
घूम घूम छा निर्भर अंबर झूल झूल झंझा झोंकों पर,
हे दुर्दम उद्दाम, हरो, भव ताप, दाप, अभिमत कर सिंचन।

परन्तु इसी के साथ एक दूसरा भी चित्र है, जहां कवि प्रकृति-चित्रण की आरम्भिक अवस्था जैसे ही अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है।

उन्मद यौवन से उभर, घटा सी नव आसाढ़ की सुन्दर,
अति श्याम वरण, श्लथ, मंद चरण,
इठलाती आती ग्राम युवति,
वह गज-गति, सर्प डगर पर !

दार्शनिक काव्य : कठोर भी कोमल—भाषा की यह कोमलता अगले सोपान में आकर और भी बढ़ जाती है। शब्द अनेक स्थानों पर कुछ कठिन रहते हैं, पर तब भी कवि का काव्य अपनी पुरानी कोमलता को छोड़ नहीं पाता। यह सब भाषा के कारण ही हुआ है।

जब तम की छाया गहराए, मानस में संशय लहराए,
युग विषाद का भार वहन कर, तुम्हें पुकारूं प्रतिक्षण,
तुम तम का आवरण उठाओ, करुणा कोमल मुख दिखलाओ,
मेरे मृ मन की छाया को निज उर में कर धारण।

आगे भी वह इस प्रकार की भावनाओं को व्यक्त करता है। एक स्थान पर वह कहता है :

वन फूलों की तरु डालों में, गाती वह, निर्भय गिरि कोयल,
काले कौओं के बीच पली, मुंहजली, प्राण करती विह्वल,
कोकिल का ज्वाला का गायन, गायन में मर्म व्यथा मादन,
उस मूक व्यथा में लिपटी स्मृति, स्मृति पट में प्रीति कथा पावन।

नवीन चरण—इतना ही नहीं, कला और बूढ़ा चांद' में भी कवि इसी प्रकार की भाषा में सफल रहा है।

भाव के सूक्ष्म श्वेत पंख, आकाश में छा गए,
स्वच्छ शांति के निश्चल पर्वत, मानस जल में निःशब्द सोए थे,
उनसे अन्तः जागरण के, गीत मुखर।
निर्झर फूट पड़े।

और, कल महत् जीवन बोहित, समस्त मानवता को,
अकूल के पार ले जा सकेगा, नव सूर्योदय।
प्रत्येक हृदय में, स्वर्ण कमल खिलाएगा।

'लोकायतन' की भाषा भी इसी कड़ी में हैं।

इस प्रकार भाषा के विषय में हम यह निश्चित रूप में कह सकते हैं कि पंत की भाषा ने आरम्भ से जो रूप ग्रहण किया, वह आज तक भी कोमल-कान्त पदावली के रूप में चलता आया है, और उसमें किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं आया। बीच-बीच में कुछ रुकावटें अवश्य आई हैं, परन्तु कवि फिर से अपनी पुरानी राह पर बढ़ निकला है।

कह सकते हैं कि उसकी भाषा हिन्दी साहित्य में कोमलता का प्रतिनिधित्व करती है।

छन्द—छन्दों के विषय में छायावादी कवियों में से कम ने ही परम्परा का अनुगमन किया है। पंत तो इस विषय में आरम्भ से ही विद्रोही सिद्ध हुए हैं। उन्होंने आरम्भ में निराला के मुक्त-छन्द पर आपत्ति की थी। किन्तु बाद में हम उन्हें स्वयं भी उस प्रकार की छन्द रचना में प्रवृत्त पाते है। लगता है कवि विषयों के अनुकूल स्वयं ही छन्दों का निर्माण करता रहा है। उसकी ऐसी कम कविताएं हैं, जिन्हें केवल सम-मात्रिक छंदों में

बँधा हुआ हम पाते हैं । इस पर भी लय, यति और संगीत की दृष्टि से उसका सारा काव्य ही अनुपम दिखाई देता है । कवि ने मुक्त छंदों का प्रयोग भी खुलकर किया है । प्रगतिवाद और उसके बाद की रचनाओं में अंतर यह है कि प्रगतिवाद में कवि छन्द-मुक्ति के लिए प्रतिज्ञा लेकर चलता है, जबकि अरविन्द दर्शन से प्रभावित काव्य में प्रायः वह मात्रिक छन्दों में फिर से बँध गया है ।

नवीनतम कृतियों में 'कला और बूढ़ा चांद' एवं 'लोकायतन' इस विषय में उसके विद्रोह को अधिक स्पष्ट कर देते हैं । प्रथम में कवि छंद के बंधन से कतई मुक्त हो गया है । फिर भी उसमें क्रम और विशिष्ट रचना के प्रति एक आग्रह पाया जाता है । तुकांत या अतुकांत का भेद उसके लिए महत्त्व नहीं रखता । अनुप्रासों की ठूँस-ठाँस की बजाए वह ध्वनि प्रभावों पर अधिक बल देता है । पर इस सबके चयन में उसे प्रयत्नशील नहीं होना पड़ा । भाषा उसके लिए स्वाभाविक क्रीड़ास्थली है ।'लोकायतन' में मात्रिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं ।

अलंकार—हम आरम्भिक व्याख्या में बता आए हैं कि कवि ने अलंकारों का परम्परागत प्रयोग किसी मोह के आवरण में नहीं किया । बल्कि स्वाभाविक रूप में तद्गुण, प्रतीक, उपमा, रूपक, आदि अलंकार आते रहे हैं। यहां सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि कवि ने आरम्भ से ही जिन उपमाओं का प्रयोग किया है, वे सर्वथा नवीन हैं । इसका अर्थ यह नहीं कि कवि परम्परागत उपमाओं का प्रयोग नहीं करता । 'पाद-पद्म' आदि प्राचीन उपमाएं भी आती ही हैं । मुख को भी चन्द्रमा से उपमित किया ही गया है । फिर भी यह सब प्रयोग इतने स्वाभाविक बनकर आते हैं कि उन्हें केवल अलंकार के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता । 'कला और बूढ़ा चांद' की दो उक्तियां इस बात को स्पष्ट कर देंगी ।

घृणा का पतझर, वसन्त बनने को है ।

तथा, **छन्दों की शायलें, उतार रहा हूँ ।**

इन्हें देखकर कोई भी आलोचक कवि को 'प्रयोगवादी' कह उठेगा। परन्तु कवि की प्रयोग की यह भावना पहले से ही चली आ रही है। कवि की आरम्भिक अवस्था की दो उपमाएं इसे अधिक स्पष्ट कर देंगी।

तुम नील वृन्त पर नभ के जग, ऊषे ! गुलाब सी खिल आईं।

अथवा, **तुम जग की स्वप्न शिराओं में, नव जीवन रुधिर सदृश छाईं।**

इनमें कवि ने नभ के वृन्त और गुलाब का फूल (ऊषा) के साथ-साथ 'स्वप्न की शिराएं' और 'जीवन का रुधिर' भी वर्णित किया है। कवि की नवीनता की यह दृष्टि उसके सम्पूर्ण काव्य में खोजी जा सकती है।

प्रकृति संबंधी चित्रण में 'मानवीकरण' की चर्चा अनेक बार की जाती है। काव्य में यह परम्परा पुरानी चली आ रही है। पर, पंत के काव्य में इसे अलंकार के रूप में कहना भ्रामक हो सकता है। मानवीकरण अलंकार को उसी सीमा तक 'अलंकार' माना जा सकता है, जब तक उसका प्रयोग केवल मानवता के आरोप के लिए किया जा रहा हो। पर सच यह है कि पंत प्रकृति पर मानवता का आरोप नहीं करते, बल्कि वे प्रकृति में एक सजीव मानवी के दर्शन करते हैं। उनके लिए प्रकृति स्वयं सजीवता धारण करके सामने आती है। ऐसी सजीवता और मानवता के दर्शन किसी अन्य कवि ने प्रकृति में कम ही किए हैं। 'विशेषण-विपर्यय' आदि अलंकारों की बात पहले कही जा चुकी है। 'पुनरुक्ति' और 'वीप्सा' का प्रयोग तो उसकी विशेषता ही है।

कवि ने काव्य की आरम्भिक अवस्था में प्रकृति से रंगों की जिस चेतना को ग्रहण किया, वह आज भी उसके साथ चल रही है। उसने केवल गिने-चुने और प्रसिद्ध रंगों को ही ग्रहण नहीं किया है, बल्कि नये नामों को खोजकर भी वास्तविकता को चित्रित करना चाहा है। 'फड़का पारद के पर अपार' में वही चमत्कार खोजना चाहिए। इसी प्रकार निम्न पद्य में भी उनके रंगों का चमत्कार अवलोकनीय है :

धूम धुआंरे, काजर कारे, हम ही बिकरारे बादर,
स्वर्ग सेतु से इंद्र धनुष धर, काम रूप घनश्याम अमर,

तथा, **तुम्हारी स्वर्ण ज्वाल सी तान उषा की कनक मदिर मुस्कान।**

यहां तान और मुसकान का रंग भी कवि ने पहचान लिया। वह बात 'कला और बूढ़ा चांद' में और स्पष्ट हो जाती है। 'हेम गौर हंस मिथुन', 'वासंती आग', 'तन्मयता के सुनहले अतल', आदि में नये रंग, उनके मिश्रण, और उनके आधार खोज लिये गए हैं। इस प्रकार कवि केवल बाहरी रंगों और बाहरी वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रहा है, बल्कि उसने अमूर्त वस्तुओं को भी रंग दे दिया है।

नाद-सौन्दर्य—भाषा के प्रसंग में इसकी चर्चा हो चुकी है। कवि ने अनुप्रास आदि का चयन करने में श्रम नहीं किया है। कई स्थानों पर तो उसने अनायास आ जाने वाले अनुप्रास का भी प्रयोग नहीं किया। पर इस पर भी ध्वनि-कोमलता और नाद-सौन्दर्य उसमें सर्वत्र विद्यमान है इसका एकमात्र कारण कोमल शब्दावलि का प्रयोग है। एक और विशेषता अनुनासिकों के प्रयोग के रूप में पहले कही जा चुकी है।

गिरा हो जाती है सनयन, नयन करते नीरव भाषण,
श्रवण तक आ जाता है मन, स्वयं मन करता बात श्रवण।

इस अकेले पद्य में अनुनासिक ही सबसे अधिक मात्रा में हैं। अन्य कई स्थानों पर भी कवि इस परम्परा से मुक्त नहीं हुआ है। यह बात 'कला और बूढ़ा चांद' एवं 'लोकायतन' तक में दिखाई दे जाती है।

इसके अतिरिक्त और भी कारण हो सकते हैं। 'ण' का प्रयोग कवि सदा ही कोमल के रूप में करता है; किन्तु अन्य दग्धाक्षरों का प्रयोग उसने कम ही किया है। 'ड' और 'ढ' के स्थान पर कवि क्रमशः 'ड़' और 'ढ़' का प्रयोग करके उन्हें कोमल बना देता है। मूर्धन्य 'ष' का प्रयोग वह तालव्य 'श' की सी ध्वनि के रूप में ही करता है। 'र' तो कहीं भी मूर्धन्य के रूप में प्रयोग नहीं हुआ। संयुक्ताक्षर और समास भी उसके यहां कम ही प्रयोग हुए हैं।

प्रतीक शैली—उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त उसकी शैली की कुछ और विशेषताएं भी हैं। इनमें से 'प्रतीक-शैली' का प्रयोग

उसकी वाद की रचनाओं में अधिक हुआ है। प्रगतिवादी रचनाओं के वाद यह शैली वल पकड़ गई है। उसके गीति-नाट्यों में इनका प्रयोग और अधिक हुआ है। इसका आरम्भिक प्रयोग 'ज्योत्स्ना' नाम की नाटिका में हुआ था।

लाक्षणिकता – उनकी शैली की दूसरी विशेषता है कि लाक्षणिकता। शुक्ल जी ने इस विशेषता को अत्यधिक महत्त्व दिया था। उनकी यह विशेषता अव तक बढ़ती ही आई है। उसके काव्य में इस लाक्षणिकता से कुछ विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। लाक्षणिकता का प्रयोग उनके प्रकृति-चित्रणों में कम हुआ है। परन्तु, वाद की रचनाओं में यह प्रयोग वढ़ता गया है।

नारीत्व का आरोप—उसकी शैली की एक और विशेषता है, जो उसे अन्य कवियों से भिन्न कर देती है। इसके अनुसार कवि स्वयं को नारी मानकर चल पड़ता है। यूँ तो जयशंकर प्रसाद और अन्य रहस्य-वादी कवियों ने भी स्वयं को प्रेमिका के रूप में चित्रत किया है। परन्तु प्रेमिका के रूप में स्वयं को चित्रत करना और वात है, और स्वाभाववश कोमलता के कारण, स्वयं को नारी रूप में परिवर्तित कर वैठना और वात है। ऐसे स्थान पर कवि किसी आवश्यकता या विवशता के कारण नारी-रूप ग्रहण नहीं करता, वल्कि वह उस रूप में अपने स्वभाव का सही प्रतिविम्व पा लेता है।

अन्य रूप—इसके अतिरिक्त 'मैं' शैली, 'रे' और 'तुम' का प्रयोग भी अवलोकनीय है।

इस प्रकार पंत हिन्दी साहित्य के सवसे कोमल कवि ठहरते हैं। और उनकी सम्पूर्ण कविता-यात्रा कोमलता के पथ की यात्रा ही कही जा सकती है। वीच-वीच में आने वाली कठोरता केवल क्षणिक ही रही है।